आदिवासी

आदिवासी

रु ५०

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मन्त्रालय
भारत सरकार दिल्ली—८

सितम्बर, १९५९ (आश्विन, १८८१)

मूल्य : १ रुपया ५० नये पैसे

PV 88

प्रकाशन विभाग के निदेशक द्वारा प्रकाशित तथा
भारत सरकार मुद्रणालय (फरीदाबाद) द्वारा मुद्रित

भूमिका

भारत के स्वाधीन हो जाने के बाद से केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों का यह निरन्तर प्रयत्न रहा है कि देश की जनता के सर्वतोमुखी विकास के लिए उपयुक्त अवसर सुलभ किए जाएं। इस प्रसंग में देश के पिछड़े हुए वर्गों, अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिमजातियों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। भारत की कुल जनसंख्या में से ५·३६ प्रतिशत व्यक्ति आदिवासी हैं जो सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से काफी पिछड़ी हुई अवस्था में हैं। इन आदिवासी लोगों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी कराने के लिए ही हमने प्रस्तुत प्रकाशन का आयोजन किया है।

हमारा यह प्रयास रहा है कि देश के प्रमुख मानव-विज्ञानवेत्ताओं से उन विषयों पर लेख प्राप्त करें जो सामान्य जनता की रुचि के हों और उसके ज्ञान में अभिवृद्धि करें। हमारे आदिवासी भाई देश के विभिन्न भागों में अलग-अलग स्थानों में केन्द्रित हैं और उनके अपने अलग-अलग रीति-रिवाज हैं। इन लोगों के हितों की रक्षा करने तथा इन क्षेत्रों में कल्याण और सामाजिक स्वायत्तता की व्यवस्था करने की दृष्टि से भारत के संविधान में विशेष व्यवस्थाएं की गई हैं।

आदिवासियों तथा उनकी समस्याओं के प्रति मूलभूत दृष्टिकोण की ओर प्रधान-मन्त्री के उस भाषण में संकेत किया गया था जो उन्होंने जून, १९५२ में नई दिल्ली में हुए अनुसूचित आदिमजाति तथा अनुसूचित क्षेत्र सम्मेलन में "आदिवासी लोग" शीर्षक से दिया था। उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश, मणिपुर तथा त्रिपुरा के आदिवासियों से सम्बन्धित मामलों के सलाहकार श्री वेरियर एलविन तथा मानवविज्ञान विभाग के संचालक और भारत सरकार के मानवविज्ञान सम्बन्धी सलाहकार श्री नवेन्दु दत्त मजुमदार ने भी अपने-अपने लेखों में इसी विषय पर प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त अन्य लेख सर्वश्री टी० सी० दास, निर्मल कुमार वोस, के० पी० चट्टोपाध्याय तथा वेरियर एलविन के हैं जिनमें आदिवासियों की कला, उनके रीति-रिवाजों, नृत्य और लोक-गीतों और उनके जीवन के अन्य रुचिकर तथा महत्व-पूर्ण पहलुओं का उल्लेख है। डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या द्वारा लिखे हुए लेख में आदिवासियों की भाषाओं का बड़ा सुन्दर विश्लेषण किया गया है। आदिवासियों की आर्थिक स्थिति, आहार-व्यवस्था तथा स्वास्थ्य और सफाई सम्बन्धी समस्याओं पर जो लेख हैं, वे सामान्य पाठक की जानकारी के लिए बहुत ही उपयोगी हैं। आदिवासी क्षेत्रों में स्वास्थ्य तथा संचार-साधनों की समस्या पर पूरा-पूरा ध्यान दिया जाना तथा उनके जीवन के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त करना आवश्यक

है। इस समस्या पर भी सामुदायिक योजनाकार्य प्रशासन का ध्यान गया है। सबसे अन्त में आदिवासियों के क्षेत्रों की प्रशासनिक समस्याओं पर असम के राज्यपाल के भूतपूर्व सलाहकार, श्री एन० के० रुस्तमजी द्वारा विचार किया गया है।

इस पुस्तिका में संकलित लेखों में जिन-जिन राज्यों का उल्लेख आया है वे राज्य पुनस्संगठन आयोग की सिफारिशों के अनुसार पुनस्संगठित किए जाने के पूर्व के राज्य हैं।

यदि प्रस्तुत प्रकाशन हमारे आदिवासी भाइयों को भलीभांति समझने में पाठकों के लिए उपयोगी और सहायक सिद्ध हुआ, तो हम समझेंगे कि हमारा प्रयास व्यर्थ नहीं गया।

विषय सूची

आदिवासी

जवाहरलाल नेहरू

सभापति महोदय और दोस्तो ! आज के इस सम्मेलन में कमो-बेश चुने हुए लोग हैं क्योंकि आप लोगों में अधिकतर विशेषज्ञ ही हैं। मैं कोई विशेषज्ञ तो हूं नहीं और मुझे डर है कि यदि हम एक साथ बैठकर अपनी समस्याओं पर विचार-विनिमय करें तो उसमें मैं बहुत अधिक योगदान नहीं दे सकूंगा।

मुझे लगता है, आप लोगों ने मुझे यहां इसीलिए बुलाया है कि मैं प्रधान-मन्त्री हूं, किन्तु मैं मानता हूं कि इस सम्मेलन में भाग लेने का एक दूसरा अधिकार भी मझे है और सम्भवतः वह बड़ा अधिकार है। वह अधिकार यह है कि मैं प्रधान-मन्त्री बनने से बहुत पहले से ही इस देश के आदिवासियों की ओर बहुत अधिक आकर्षित रहता था। यह आकर्षण का भाव सिर्फ़ एक पर्यवेक्षक की, अजीबोग़रीब रीति-रिवाज देखने की उत्सुकता का भाव नहीं था और न ही मुझ में एक ऐसे व्यक्ति के भाव थे जो दूसरों का भला करना चाहता है। मेरा उनके प्रति आकर्षण केवल इसलिए था कि मैं उनके बीच रहकर प्रसन्नता और अपनत्व का अनुभव करता था। मेरा उनसे प्रेम था—उसमें न तो उनक कल्याण की भावना थी और न मैं उनसे अपने लिए कुछ आशा ही रखता था। दूसरों का कल्याण करने की इच्छा रखना एक प्रशंसनीय इच्छा अवश्य है, किन्तु बहुधा इसका जो परिणाम निकलता है उससे न कल्याण करने की इच्छा करने वाले का भला होता है और न दूसरे पक्ष का।

आदिवासियों में मुझे बहुत से ऐसे गुण मिले हैं जो मैदानों, नगरों तथा भारत के अन्य भाग के निवासियों में नहीं मिलते। इन्हीं गुणों के कारण मैं उनकी ओर आकर्षित हुआ हूं।

भारत के आदिवासियों में बड़ी शक्ति ह और वे स्वभावतः कभी-कभी सही रास्ते से भटक कर गलत रास्ते पर चलने लगे। उन्होंने आपस में लड़ाई-झगड़ा किया और एक-दूसरे का गला काट डाला। ऐसी घटनाएं बहुत ही निन्दनीय हैं और इन्हें रोकना ही चाहिए। तो भी मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि उनकी कुछ आदतें उन आदतों से कम बुरी हैं जो हमारे नगरवासियों में पाई जाती हैं। भावनाओं को

नई दिल्ली में १९५२ म हुए 'अनुसूचित आदिम जाति और अनुसूचित क्षेत्र सम्मेलन' के प्रारम्भिक अधिवेशन में दिया गया भाषण।

कुचलने की अपेक्षा हाथ या गला काट डालना कभी-कभी अच्छा ही होता है। मैं इन भोले-भाले लोगों के साथ प्रसन्नता का अनुभव करता हूं, इसका कारण सम्भवतः यह है कि मेरे अन्दर जो घुमक्कड़पन की आदत है, वह उनकी आदत से मिलती-जुलती है। मैं उनके पास एक साथी के रूप में पहुंचा, एक ऐसे व्यक्ति के रूप में नहीं, जो अपने को उनसे अलग-थलग माने या उनको देखने, उनका परीक्षण करने, उनको तोलने, उनको नापने-जोखने अथवा उनके बारे में रिपोर्ट देने या उन्हें एक दूसरे प्रकार का जीवन बिताने के लिए राजी या बाध्य करने के लिए ही उनके पास पहुंचा हो।

मैं यह देखकर कुछ चौंक सा जाता हूं कि केवल इस देश में ही नहीं बल्कि अन्य बड़े देशों में भी लोग अपनी कल्पना या अपनी इच्छा के अनुसार दूसरों को ढालने या उन पर रहने-सहने का अपना विशेष ढंग थोपने को कितने उत्सुक हैं। हम बड़ी खुशी से अपने ढंग से रहें पर इसे दूसरों पर क्यों थोपें ? यह समान रूप से राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों क्षेत्रों पर लागू होता है। सच पूछिए तो, यदि लोग दूसरे लोगों या देशों पर रहन-सहन का अपना ढंग थोपना छोड़ दें तो संसार में अधिक शान्ति स्थापित होगी।

स्वयं मुझे ही निश्चित रूप से नहीं मालूम कि रहन-सहन का कौन सा ढंग अधिक अच्छा है। कुछ मामलों में मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि रहन-सहन का उनका ढंग अधिक अच्छा है। इसलिए, अपने में उच्चता का भाव लेकर उनके पास जाना या उनसे कुछ करने या न करने को कहना बहुत भारी भूल है। उनसे अपनी नक्ल करवाने में मुझे तो कोई तर्क या दलील नहीं दिखाई पड़ती।

आखिर, ये आदिवासी हैं कौन ? एक तरह से कहा जा सकता है कि ये लोग सीमान्तवासी लोग हैं अथवा जो इस देश के आन्तरिक भाग से दूर रहते हैं। जिस प्रकार पहाड़ों पर रहने वाले लोग मैदानों में रहने वालों से भिन्न होते हैं, उसी प्रकार सीमा पर रहने वाले लोग भी सीमा से दूर रहने वाले लोगों से भिन्न होते हैं। मैं तो मैदानों की अपेक्षा पहाड़ों को और मैदानी लोगों की अपेक्षा पहाड़ी लोगों को अधिक पसन्द करता हूं। इसलिए मैं सीमा पर रहना अधिक पसन्द करता हूं, किसी भौतिक अर्थ में नहीं बल्कि इसलिए कि सीमा के पास रहना बौद्धिक रूप से मुझे अधिक पसन्द है। मैं अनुभव करता हूं कि इससे मैं आत्म-सन्तोष से बचा रहूंगा, और आत्म-सन्तोष एक बहुत ही गम्भीर खतरा है, विशेषकर भारत जैसे एक महान् देश में जहां सबसे पास की सीमा भी एक हजार मील दूर हो सकती है।

हमें आदिवासियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखना चाहिए। हम उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं, विशेषकर सीमान्त क्षेत्रों में, और उनसे सीखकर हमें

उनकी सहायता करनी और उनको सहयोग देना चाहिए। वे लोग अत्यन्त अनुशासित होते हैं, कभी-कभी तो भारत के अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक लोकतन्त्री। यद्यपि उनका कोई संविधान नहीं है, फिर भी वे बहुत अधिक लोकतन्त्री ढंग से रहते और अपने बड़े लोगों या प्रतिनिधियों के निर्णयों को व्यवहार में लाते हैं। खास बात तो यह है कि वे लोग नाचते-गाते और जीवन का आनन्द भोगने का प्रयास करते हैं। वे उन लोगों की तरह नहीं हैं जो स्टाक-एक्सचेंजों में बैठकर शोरगुल करते हैं और अपने को सभ्य मानते हैं।

मैं स्टाक-एक्सचेंजों का सदस्य बनने की अपेक्षा, जहां लोग बैठकर दूसरों का शोरगुल, जो एक हद तक बहुत भद्दा होता है, सुनते हैं, पहाड़ियों में घुमक्कड़ का जीवन बिताना अधिक पसन्द करूंगा। क्या यही वह सभ्यता है जिसका अनुसरण हम आदिवासियों से कराना चाहते हैं? नहीं! मुझे पूरा विश्वास है कि आदिवासी अपनी नाच-गाने की सभ्यता के साथ उस समय तक भी जीवित रहेंगे जबकि स्टाक-एक्सचेंज समाप्त हो चुके होंगे।

यह बड़े खेद की बात है कि नगरों में रहने वाले हम लोग जीवन के सौन्दर्य से कोसों दूर जा चुके हैं। गांवों में जाने पर हमें अब भी बहुत से सुन्दर लोक-गीत तथा नृत्य सुनने तथा देखने का अवसर मिलता है, उन पर आधुनिक सभ्यता का अभी तक कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है। भारत में आधुनिक सभ्यता का जो विकास हुआ है उसमें बहुत-सी बातें अच्छी हैं और बहुत-सी बुरी। हम गाने और नृत्य की भावना को बिल्कुल खो चुके हैं और इस प्रकार जीवन का आनन्द भी, और यही चीज़ हैं जो आदिवासियों के आचरण और व्यवहार में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। हम सिनेमा की ओर बहुत अधिक ध्यान देते हुए दिखाई पड़ते हैं। निस्सन्देह बहुत-सी बातों के लिए यह एक बहुत अच्छा माध्यम है, किन्तु दुर्भाग्यवश इससे कोई प्रेरणा मिलती नहीं दिखाई पड़ती। हमें आदिवासियों की मूल भावना को नष्ट करने की अपेक्षा उससे कुछ न कुछ शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

लगभग आधी शताब्दी या उससे अधिक समय तक हम स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करते रहे और अन्त में हमने वह प्राप्त भी की। वह संघर्ष अन्य किसी चीज़ के अलावा स्वतन्त्रता प्राप्त करने की एक महान् शक्ति थी। उसने हमें ऊपर उठाया, हममें सुधार किया और कुछ क्षण के लिए हमारी कुछ कमजोरियों को छिपाया। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि लाखों-करोड़ों भारतीयों के इस अनुभव से हमारे आदिवासी अछूते रह गए। हमारे स्वतन्त्रता-संग्राम ने भारत के मध्य भाग के आदिवासियों को तो कुछ हद तक प्रभावित किया भी; किन्तु, उदाहरण के लिए, असम के सीमान्त क्षेत्र इससे बिल्कुल अछूते रहे।

इसका एक कारण यह था कि उन दिनों उपलब्ध हमारे संचार-साधन बहुत ही अपर्याप्त थे। वास्तव में, इसके अलावा कुछ अन्य कारण भी थे।

एक कारण यह था कि नगरवासी अपने घरों को छोड़ कर पहाड़ों में जाने से डरते थे। ईसाई धर्म-प्रचारक विभिन्न जन-जाति क्षेत्रों में गए और उनमें से कुछ तो जीवनपर्यन्त वहीं रहे। मैदानों से जन-जाति प्रदेशों में जाकर बसने के बहुत से उदाहरण देखने में नहीं आते। हममें इन क्षेत्रों में जाकर बसने की प्रवृत्ति का तो अभाव था ही, किन्तु उस समय के ब्रिटिश अधिकारी भी हमें इन क्षेत्रों में नहीं जाने देते थे। यही कारण है कि हमारा स्वातन्त्र्य-संग्राम इन लोगों तक कभी-कभी और वह भी अफ़वाहों के रूप में ही पहुंच पाया। उन पर कभी तो इसकी प्रतिक्रिया अनुकूल हुई और कभी प्रतिकूल। यह एक दूसरी ही बात है।

हमारे स्वतन्त्रता-संग्राम का सार भारत में स्वतन्त्रता दिलाने वाली शक्ति को प्रकाश में लाना था। इस शक्ति ने एक सबसे महत्वपूर्ण आदिवासी-क्षेत्र में सीमान्त लोगों को तनिक-सा भी प्रभावित नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि मूलभूत परिवर्तनों के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अपने को तैयार करने में हमें तो कई दशाब्दियों का समय प्राप्त हुआ किन्तु आदिवासियों को ऐसा कोई भी अवसर न मिला। इसके विपरीत ब्रिटिश अधिकारियों तथा कभी-कभी ईसाई धर्म-प्रचारकों के प्रयासों के माध्यम से इन क्षेत्रों में प्रतिकूल वातावरण की ही सृष्टि हुई।

ईसाई धर्म-प्रचारकों ने इन क्षेत्रों में बहुत अच्छा काम किया और मैं भी उनका प्रशंसक हूं, किन्तु राजनीतिक दृष्टि से वे भारत में होने वाले परिवर्तनों के पक्ष में नहीं थे। सच पूछिए तो, जिस समय भारत में नई राजनीतिक जागृति का उदय हुआ, उस समय उत्तर-पूर्वी भारत में एक आन्दोलन के द्वारा उत्तर-पूर्व के निवासियों को अलग तथा स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना करने के लिए प्रोत्साहन दिया गया। इस क्षेत्र के अधिकांश विदेशी निवासियों ने इस आन्दोलन का समर्थन किया। मैं यह नहीं समझ पाता कि ऐसा किस दृष्टि से व्यावहारिक अथवा सम्भव जान पड़ा होगा। मेरा कहना यह है कि उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश के लोगों को पिछली पीढ़ी में और यहां तक कि अभी हाल के वर्षों तक भी एक दूसरी ही परिस्थिति में रहना पड़ा और आज भी ऐसी ही स्थिति है। कुछ दोष हमारा है और कुछ परिस्थितियों का। आदिवासियों को ठीक रूप से समझने के प्रयास पर इन कारणों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है।

वे हमारे अपने ही अंग हैं और हमारा काम कुछ स्कूल तथा कुछ दवा-ख़ाने और चिकित्सालय खोल देने से ही समाप्त नहीं हो जाता। यह सच है कि हमें वहां स्कूल, दवाख़ाने और चिकित्सालय अवश्य खोलने चाहिएं पर असली

बात यह है कि हमें अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करना होगा। हमारे लिए आवश्यक यह है कि हम उनके साथ अपनेपन का अनुभव करें और उन्हें अधिक से अधिक समझने का प्रयास किया जाए। इसके लिए एक मनोवैज्ञानिक ढंग से सोचने की आवश्यकता है।

स्कूलों तथा अन्य मामलों के सम्बन्ध में नित्यप्रति विकास-कार्यक्रमों की चर्चा की जाती है, परन्तु जब तक समस्या की जड़ तक नहीं पहुंचा जाएगा तब तक किसी भी प्रकार की सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। आज की आवश्यकता यह है कि हम उन्हें समझें और अपने बारे में उन्हें समझाएं और इस प्रकार आपस में प्रेम और सद्भावना के सम्बन्ध स्थापित करें। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत की मूलभूत समस्या कुल मिलाकर उसके एकीकरण और उसको शक्तिशाली बनाने की है। राजनीतिक एकीकरण अब पूरा हो चुका है, लेकिन इतना ही काफी नहीं है। हमें वे परिवर्तन लाने चाहिएं जो राजनीतिक एकीकरण की अपेक्षा बहुत अधिक मूलभूत और आवश्यक हैं। इसमें समय लगेगा। क्योंकि यह केवल कानून का ही विषय नहीं है। हमें इसके लिए प्रयास करना चाहिए और अनुकूल स्थिति पैदा करनी चाहिए। आज के भारत की सबसे बड़ी समस्या उतनी अधिक राजनीतिक नहीं है जितनी मनोवैज्ञानिक एकीकरण और उसको शक्तिशाली बनाने की है। भारत में ऐसी एकता स्थापित होनी चाहिए जिसमें प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता तथा ऐसे अन्य 'वादों' के लिए कोई स्थान न होगा जिनसे पृथकता की भावना तथा विखण्डन को बल मिलता है।

जैसा कि मैं ज़िक्र कर आया हूं, हमें आदिवासियों के पास प्रेम तथा मित्रता की भावना के साथ जाना और उन्हें स्वतन्त्र बनाने में सहायक होना चाहिए। हमारा यह कर्त्तव्य है कि जब हम उन के पास जाएं तो वे यही महसूस करें कि हम उनको कुछ देने के लिए ही आए हैं, उनसे छीनने के लिए नहीं। भारत को इसी प्रकार के मनोवैज्ञानिक एकीकरण की आवश्यकता है। पर यदि वे ऐसा महसूस करने लगें कि आप उनके पास उन पर कुछ थोपने के लिए ही आए हैं अथवा हम उनके रहन-सहन के ढंग को बदलवाने के लिए, उनकी ज़मीन छीनने के लिए अथवा व्यापारियों को उनके शोषण के लिए प्रोत्साहन देने के लिए ही उनके पास पहुंचे हैं तो दोष हमारा ही है क्योंकि इसका एकमात्र अर्थ यही हुआ कि उनके प्रति हमारा दृष्टिकोण बिल्कुल गलत है।

किसी भी स्थान पर अधिकारियों की नियुक्ति करते समय सावधान तो रहना ही चाहिए पर आदिवासी क्षेत्रों में नियुक्ति करते समय हमें दुगुना सावधान रहना चाहिए। आदिवासी क्षेत्रों में नियुक्त होने वाले अधिकारी को केवल परीक्षा पास करने वाला अथवा केवल अनुभवी ही नहीं होना चाहिए, बल्कि वह ऐसा व्यक्ति

होना चाहिए जिसमें जोश हो और जिसकी बुद्धि तथा हृदय ऐसे हों कि जिनसे वह उस समस्या को भली-भांति समझ सके जिसका उसे हल करना है। उसे वहां केवल इसीलिए नहीं जाना चाहिए कि दिन में कुछ घंटे तो वह कार्यालय में बैठे और शेष समय ऐसे स्थान पर भेज दिए जाने के लिए अपने भाग्य को कोसता रहे। इस प्रकार का व्यक्ति बिल्कुल बेकार-सा व्यक्ति है। इसकी अपेक्षा तो बिल्कुल अशिक्षित व्यक्ति का भेजना अच्छा होगा, बशर्ते कि वह इन लोगों के पास प्यार से और मित्र के नाते जाए और उनके बीच उन्हीं का बनकर रहे। ऐसा व्यक्ति उस बुद्धिमान व्यक्ति की तुलना में अधिक अच्छा काम कर सकेगा जिसमें समस्या को समझने के लिए मानवीय समझ ही नहीं है। एक अधिकारी बनकर वहां जाने वाले व्यक्ति को आदिवासियों के सुख-दुःख में हाथ बंटाना चाहिए। उसे उनकी झोंपड़ियों में जाने के लिए, उनसे बातचीत करने के लिए, उनके साथ खाने और उठने-बैठने के लिए और उन्हीं का-सा जीवन बिताने के लिए तैयार रहना चाहिए और अपने को उनसे श्रेष्ठ या अलग नहीं समझना चाहिए। तभी उसको उनका विश्वास और आदर प्राप्त हो सकता है और इसी अवस्था में वह उनको सलाह-मशविरा दे सकता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भाषा की समस्या सदा बहुत महत्वपूर्ण होती है। अच्छे से अच्छे हल भी व्यर्थ जा सकते हैं यदि तत्सम्बन्धी दल उनके ग़लत अर्थ लगा लें। मेरे लिए तो यह बिल्कुल स्पष्ट है कि सरकार को आदिवासियों की भाषाओं को प्रोत्साहन देना चाहिए। केवल उनको चालू रहने देना ही पर्याप्त नहीं है। उनका यथासम्भव पूरा समर्थन करना चाहिए और उस वातावरण की जिसमें वे फल-फूल सकें, रक्षा करनी चाहिए। इसके लिए हमें सब कुछ करना चाहिए।

सोवियत रूस इसका उदाहरण है, जहां ऐसी नीति सफल रही है। इस सम्बन्ध में लेनिन तथा अन्य नेताओं ने अपने-अपने समय में बड़ी बुद्धिमानी से काम लिया। अपने अन्तिम लक्ष्य को अलग रखकर उन्होंने लोगों की सद्भावना प्राप्त करने का प्रयास किया, और यह सद्भावना उन्होंने सैकड़ों बोलियों की शब्दावलियां, शब्द-कोश तैयार करके तथा कभी-कभी नई लिपियों की खोज द्वारा सहायता पहुंचा कर उनकी भाषाओं को प्रोत्साहन देने की अपनी नीति के फलस्वरूप प्राप्त की। उनकी आकांक्षा यह थी कि उनके देशवासी यह अनुभव करें कि वे अपना जीवन अपने ढंग से बिताने के लिए स्वतन्त्र हैं और वे ऐसा विश्वास पैदा करने में सफल रहे।

भाषाओं के मामले में किसी भी प्रकार की जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए। मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि पश्चिमी बंगाल सरकार ने तिब्बती भाषी

लोगों के लिए दार्जिलिंग और कलिम्पोंग में विशेष स्कूल अवश्य स्थापित किए होंगे। आदिवासियों की यदि अपनी कोई लिपि है, तो हमें उसका ही प्रयोग करना चाहिए। परन्तु साधारणत: उनकी अपनी कोई लिपि नहीं है और अब तक एकमात्र लिपि जो उन्होंने कुछ हद तक सीखी है, वह है रोमन लिपि। निस्सन्देह यह एक अच्छी लिपि है और क्योंकि बहुत से व्यक्तियों ने इसे ही सीखा है, इसलिए मैं इसका विरोध न करूंगा।

परन्तु यदि हमें एक नई लिपि चालू करनी है— मैं किसी प्रकार का आश्वासन नहीं दे रहा हूं, बल्कि मैं तो केवल इसलिए कह रहा हूं क्योंकि यह चीज़ मेरे ध्यान में आई है—तो भविष्य के लिए देवनागरी लिपि का उपयोग उत्तम रहेगा। यह एक बहुत ही सरल लिपि है और इसके अलावा, आदिवासी अन्य किसी लिपि की अपेक्षा इसके माध्यम से शेष भारत के साथ अधिक सम्पर्क में आ सकेंगे। उन क्षेत्रों में जहां अधिकांश निवासी रोमन लिपि का प्रयोग करते हैं, मैं इसे एकाएक छोड़ने के लिए न कहूंगा क्योंकि मैं उन्हें ऐसा अनुभव नहीं करने देना चाहता कि उनको किसी प्रकार वाध्य किया जा रहा है।

जहां तक मुझे मालूम है, हमने आदिवासियों के सम्बन्ध में इन दो में से एक न एक दृष्टिकोण अपनाया है। एक दृष्टिकोण मानवविज्ञान सम्बन्धी कहा जा सकता है जिसके अनुसार हम उन्हें संग्रहालय की वस्तु जैसा मानते हैं और उनके बारे में लिखते हैं। केवल मानवविज्ञान की दृष्टि से उनकी जांच और विश्लेषण करना, वैसे तो प्राणीमात्र मानवविज्ञान का एक नमूना है—उनका अपमान करना है। हम उन्हें ऐसा प्राणी नहीं मानते जिनके साथ काम किया और खेला-कूदा जा सकता है। दूसरा दृष्टिकोण इस तथ्य को न मानने का है कि वे हमसे भिन्न हैं और उनके साथ किसी विशेष प्रकार के व्यवहार की आवश्यकता है। हम उन पर सामाजिक जीवन का सामान्य तरीका बलपूर्वक लादना चाहते हैं। उनको किसी दूसरे प्रकार का जीवन बिताने के लिए वाध्य करना अथवा साधारण तरीकों के माध्यम से उनको दूसरे प्रकार का जीवन बिताने के लिए तैयार करना, दोनों ही समान रूप से मूर्खतापूर्ण हैं।

वास्तव में, मुझे इसमें सन्देह नहीं कि यदि साधारण तरीकों पर चला गया तो बाहरी अवांछनीय व्यक्ति आदिवासी क्षेत्रों पर अपना अधिकार कर लेंगे। वे जंगलों को अपने अधिकार में ले लेंगे और आदिवासियों के जीवन में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर देंगे। हमें उनके क्षेत्रों में इतनी सुरक्षा की व्यवस्था तो अवश्य ही करनी चाहिए कि कोई भी बाहरी व्यक्ति उनकी भूमि अथवा जंगलों पर अपना अधिकार न कर सके और बिना उनकी मरज़ी और सद्भावना के उनके जीवन अथवा मामलों में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न कर सके। आदिवासी क्षेत्रों में

तथा साथ ही देश के अन्य स्थानों में भी सर्वाधिक प्राथमिकता सड़कों तथा संचार-साधनों को ही दी जानी चाहिए। इनके बिना, हम चाहे कुछ भी करें, कोई भी कार्य प्रभावकारी न होगा। स्पष्ट है कि आदिवासी क्षेत्रों में स्कूलों, स्वास्थ्य सम्बन्धी सहायता-कार्यों, कुटीर उद्योगों तथा अन्य बातों की बहुत अधिक आवश्यकता है। किन्तु, यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि हम उनके रहन-सहन के ढंग में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहते बल्कि हम तो उन्हें उनका अपना जीवन बिताने में ही सहायता देना चाहते हैं।

क्या हम उन्हें सचमुच चिड़ियाघर में रखना चाहते हैं ?

वेरियर एलविन

भारत में मानवविज्ञानवेत्ताओं की जो आलोचनाएं की जाती हैं, उनमें से एक यह है कि वे अपने मतलब के लिए ही आदिवासियों को चिड़िया-घर अथवा संग्रहालय में रखना चाहते हैं। यह सुझाव, जहां तक मुझे याद है, सबसे पहले फ़रवरी, १९३६ में विधान सभा में निषिद्ध क्षेत्रों पर हुई बहस के अवसर पर दिया गया था। उस समय कई वक्ताओं ने मानवविज्ञानवेत्ताओं पर यह आरोप लगाया था कि वे भारत के आदिमवासियों को 'असभ्य' तथा 'जंगलीपन की अवस्था' में रखना चाहते हैं ताकि उन्हें अपने 'वैज्ञानिक ज्ञान-भण्डार' में वृद्धि करने का अवसर मिल सके। अब भी जब कि भारत आदिवासियों के बुद्धिमत्तापूर्ण और सुनियोजित विकास के सम्बन्ध में मानवविज्ञान के महत्व को स्वीकार कर चुका है, यहां बहुत-से लोग बच्चों जैसी शिकायतों की बार-बार पुनरावृत्ति करते हैं।

यह सच है कि कुछ लोग आज भी यह मानते हैं, और ऐसा मानने वाले लोग सदा से कहते आए हैं, कि आदिवासी हमसे अच्छे हैं और इसलिए आज जिस स्थिति में वे हैं, वह ठीक है। ऐसे लोग यह पसन्द करेंगे कि आदिवासी सभ्यता की बुराइयों से अलग ही रह तो अच्छा है और ये उनकी रक्षा केवल आर्थिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि से और विदेशियों के शोषण से करना चाहेंगे।

किन्तु इस दृष्टिकोण का मानवविज्ञान से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है और वास्तव में कुछ ही मानवविज्ञानवेत्ता इस दृष्टिकोण के पोषक हैं। आज मानवविज्ञानवेत्ता स्थिर रहने वाले समाज की अपेक्षा विकसित होते हुए समाज का अध्ययन करते हैं, और चिड़ियाघर के दरवाज़े खुल जाने से वैज्ञानिक ज्ञान के भण्डार में और भी वृद्धि होने की सम्भावना है।

यह मनोरंजक बात है कि आदिवासियों के प्रति उचित दृष्टिकोण के प्रश्न पर सैकड़ों वर्ष पूर्व बड़े ज़ोर-शोर से बहस छिड़ी थी और तब तक वैज्ञानिक मानवविज्ञान का कहीं नामोनिशान भी नहीं था। उस समय भी वही तर्क दिए गए थे जो आज दिए जाते हैं। मनुष्य प्रकृति की अवस्था में ठीक है या कला की अवस्था में ? बिना पढ़ा लिखा, 'जंगली' मानव क्या आधुनिक संसार के सभ्य कहलाने वाले तथा

मूल रूप से ३ अक्तूबर, १९५४ के 'दि सन्डे स्टेट्समैन' में प्रकाशित। लेख को परिपूर्ण बनाने के लिए लेखक द्वारा कुछ अंश बाद को जोड़ दिए गए हैं।

शहरी लोगों से अधिक सुखी, अधिक चरित्रवान तथा एक शब्द में 'अधिक अच्छा' होता है ?

बासवेल तथा जान्सन ने इस प्रश्न पर कई बार विचार-विनिमय किया। वासवेल, जिसने स्वयं रूसो से भेंट की थी, उदारचरित जंगली मानव के पक्ष में था। जान्सन इसके पक्ष में नहीं था। उसने कहा था, "जंगली मानवों का पक्ष मत लो।" वासवेल ने जब जंगली जीवन में अधिक सुख-शान्ति के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करने का प्रयास किया तो उसने व्यंग्य के साथ कहा, "महाशय जी, इससे अधिक झूठ और कुछ नहीं हो सकता। जंगली लोगों का शरीर सभ्य लोगों से कोई अधिक हृष्टपुष्ट नहीं होता। उनका स्वास्थ्य कोई विशेष अच्छा नहीं होता और जहां तक मानसिक अशान्ति अथवा चिन्ता का प्रश्न है, वे उससे भी परे नहीं हैं बल्कि उनकी स्थिति तो और भी खराब, भालुओं जैसी होती है।" उसके विचार में रेड इण्डियन लोगों में प्रेम नाम की चीज़ नहीं होती, यदि वह रेड इण्डियन के घर पैदा होता तो वह पहले ही मर जाता क्योंकि उसकी आंखें जीविका कमाने में सहायक न होतीं। एक दिन शाम को उसने उन लोगों को खूब कोसा जो जंगली लोगों के बीच रहना पसन्द करते थे: "वह व्यक्ति कितना अभागा होगा जो जंगली लोगों में होने वाली बात-चीत से ही सन्तोष मान लेता है।"

परन्तु इसके भी बहुत पहले, आदिवासियों की विचित्र जनसंख्या से युक्त नए संसार की खोज से समस्त यूरोपवासी इस समस्या पर विचार करने लगे थे। आज की भांति उस समय भी विभिन्न मत थे। कुछ लोग उनको अलग छोड़ने के पक्ष में थे। इन सबमें से उदाहरण के लिए मान्टेन का नाम लिया जा सकता है। उसका विचार था कि पहाड़ियों तथा जंगलों के निर्दोष और पवित्र संसार के निवासी, सभ्य मनुष्यों की तुलना में स्वाभाविक रूप से अधिक गुणवान होते हैं। 'नर-भक्षक' शीर्षक अपने लेख में वह कहता है कि रेड इण्डियन केवल उसी अर्थ में जंगली हैं जिस अर्थ में जंगली फूल जंगली हैं, किन्तु उन लोगों में वास्तविक और अत्यन्त लाभकारी गुण तथा अत्यन्त सुन्दर और शक्तिशाली स्वाभाविक विशषताएं छिपी हैं। सभ्यता ने 'इन गुणों का हमारी बुरी और अपवित्र इच्छाओं की तृप्ति के लिए, उपयोग करके, इनको अपवित्र और गन्दा कर दिया है।' उसे इस बात का खेद है कि प्लेटो आदिमकालीन अमेरिका की खोज के समय तक जीवित नहीं रहा क्योंकि तब वह 'स्वर्ण युग' का और भी अच्छा चित्र खींच सकता।

बहुत से अन्य लेखकों का भी यही दृष्टिकोण है। स्पेन्सर की 'फेयरी क्वीन' शीर्षक रचना का एक पात्र एक सुशील और विनम्र आदिवासी है; ड्रेटन अमेरिका से प्राप्त होने वाले समाचारों पर प्रफुल्लित और उत्साहित हो उठा; ब्यूमोन्ट और फ्लेचर अमेरिका के रेड इण्डियनों के विषय में लिखते हैं: "सूर्य की गर्मी से तप्त

इण्डियन की शान्ति और आनन्द ही एकमात्र सम्पत्ति हैं।" बहुत से लोगों ने सर्वप्रथम उपनिवेशियों तथा बागान-मालिकों के बुरे प्रभाव की निन्दा की, फुलर ने ईसाई जंगली मानवों का उल्लेख किया जो धर्मविहीन जंगली लोगों को धर्म-दीक्षा देने गए।

किन्तु, अन्य लेखकों ने कुछ कम आशावादी दृष्टिकोण अपनाया। रेड इण्डियनों को 'मानवीय पशु' के नाम से सम्बोधित किया गया। वे 'खूंख्वार, अमानवीय, पूरे जंगली' हैं। सेण्डी कहता है कि 'रेड इण्डियन एक नेत्र वाले दैत्यों की भांति स्वयं अपने बीच असामाजिक और नए आगन्तुक के लिए अमानवीय होते हैं।' दोनों दृष्टिकोणों की भिन्नता कहीं भी इतनी स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ती जितनी कि शेक्सपियर के नाटक 'द टेम्पेस्ट' में।

इस नाटक में कैलिबन (जिसका नामकरण नए संसारके एक आदिम पुरुष और नरभक्षक कैरीब के आधार पर हुआ है।) रेड इण्डियन के लिए प्रयुक्त हुआ है और प्रौस्पेरो उपनिवेशी अथवा बागान-मालिक के लिए, और इन दोनों के बीच का संघर्ष आदिम पुरुष के चरित्र और स्थिति के सम्बन्ध में चल रहे वर्तमान विवाद का द्योतक है।

कैलिबन जो नीच जाति का, जादू से पैदा हुआ, एक जादूगरनी की खूंख्वार सन्तान ह और देखने में तथा आचार-व्यवहार में भी कुरूप तथा अमानवीय-सा है, उस द्वीप का आदिमकाल से चला आ रहा स्वामी है जिसमें प्रौस्पेरो और उसकी पुत्री घिर जाते हैं। उसका निज का ही वर्णन कि किस प्रकार वह अधिकारहीन कर दिया जाता है, अत्यन्त दुःखपूर्ण है।

यह है मेरा द्वीप—
मेरी माता साइकोरैक्स के नाते —
जो तुम छीन रहे हो मुझ से।
जब तुम आए थे टापू पर पहले-पहले
मुझे थपथपाया था
समुचित सम्मान दिया था
और दिया था पीने को झरबेरी-युक्त नीर
सिखलाया था दिन के वृहद्, रात के लघु
प्रकाश का नाम
मैंने भी तब तुम्हें दिया था प्यार
और बताए थे टापू के सब के सब गुण, भेद
ताज़े झरने, खारी सोते,

उर्वर और अनुर्वर सारी भूमि
धिक्-धिक् मुझको, जो खोले मैंने सभी रहस्य !

\+ + + +

आदिवासी प्रदेश पर अधिकार कर लेने पर प्रौस्पेरो सामाजिक उत्थान और शिक्षा के विकास की उपेक्षा नहीं करता और उसके इस कार्य में उसकी पुत्री मिराण्डा एक कुशल और उत्साही सहायक के रूप में सामने आती है। यद्यपि वे कैलिवन को केवल एक दास और लकड़हारे की स्थिति में पहुंचा देते हैं, तथापि वह उस से सहानुभूति दिखाती ह और उसको पढ़ना-लिखना सिखाने के लिए हर समय उसकी कुछ न कुछ सहायता करती रहतीहैं।

पर इसमें सफलता प्राप्त नहीं हुई। जैसा कि अभी हाल में श्री फ्रैंक करमोड ने कहा है—"कैलिवन की शिक्षा केवल व्यर्थ ही नहीं गई वल्कि हानिकर भी सिद्ध हुई। वह वोलने के गुण का केवल दुरुपयोग ही कर सकता है, और उसको सुसंस्कृत करने में प्रौस्पेरो उसके अन्दर उद्दाम वासनाएं—मिराण्डा के प्रति कामोत्तेजना, अपनी हीन स्थिति के प्रति असन्तोष की भावना, महत्वाकांक्षाएं, सभी प्रकार की वुरी आदतें—पैदा करदेता है। किसी को विना सोचे-समझे जल्दी से सभ्य तथा पढ़ा-लिखा वनाने का परिणाम आज भी ऐसा ही होता है।

तो भी शेक्सपियर जिसका दृष्टिकोण जान्सन से अधिक सार्वभौमिक है, दूसरे पक्ष पर भी दृष्टिपात करता है। कैलिवन गुणों से विल्कुल हीन नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है कि उससे अन्याय किया गया ह। इस सबके अलावा उसे भी संगीत से प्रेम है और अन्य स्थानों के आदिवासियों की भांति वह भी कविता प्रेमी है, और वह कुछ क्षण के लिए वहुत ही सुन्दर भाषण करता है। सभ्यता के वे प्रतिनिधि जो प्रौस्पेरो के साथ उस द्वीप में पहुंचते हैं; किसी भी रूप में कैलिबन से अच्छे नहीं हैं। स्टीफेनो और ट्रिन्कुलो शराव के नशे में चूर रहते हैं, एन्टोनियो दुष्ट और नीच प्रकृति का व्यक्ति है, एलोन्ज़ो का जीवन घोर अपराधों से पूर्ण है। आधुनिक संसार के इन्हीं प्रतिनिधियों के प्रभाव के चक्कर में पड़कर कैलिवन शराव पीने लगता है और अपने स्वामी के साथ वुरी तरह पेश आता है ? निश्चय ही यह वात कम महत्वपूर्ण नहीं है कि शेक्सपियर हमारे सामने इस आदिवासी को एक शराबी नौकर के 'खुशामदी' के रूप में प्रस्तुत करता है।

उस समय से आदिवासियों का विश्वास प्राप्त करने के लिए जो तरीके अपनाए गए हैं, उनकी दृष्टि से यह एक मनोरंजक वात है कि कैलिबन को प्रभावित करने के लिए स्टीफेनो यह दावा करता है कि वह चन्द्रमा से अवतरित हुआ है।

इस प्रकार शेक्सपियर का यह दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है कि आदिवासी व्यक्ति पहले ही बहुत अच्छा नहीं होता पर सभ्यता के साथ सम्पर्क में आने के बाद तो वह और भी बिगड़ जाता है।

किन्तु सम्पूर्ण सत्रहवीं शताब्दी में भोले-भाले गड़रिये, प्रसन्नचित्त कृषक हार्टुलन सेण्ट के पक्ष में व्यापक रूप से प्रचलित एक धारणा ने यथार्थवादी दृष्टिकोण को धूमिल कर दिया। इस युग का काव्य-साहित्य इतना समृद्ध है कि नार्वे की एक विदुषी डा० रोस्टविग ने अपनी हाल की पुस्तक 'द हैपी मैन' में लगभग ५०० पृष्ठों में इसी की चर्चा की है। यूरोपीय काव्य की ग्राम्य-जीवन से रंगी परम्परा ने स्वर्ण युग की अपनी विचारधारा का आधार होरेस, वर्जिल तथा हेसियोड जैसे शास्त्रीय कवियों तथा कैटो, वैरो तथा कौलुमेला जैसे लैटिन के गद्यकारों को बनाया जिन्होंने कृषि की प्रशंसा में उत्साह के साथ बहुत-कुछ लिखा। इन साहित्यकारों ने जिस जीवन की प्रशंसा की, वह कोरा 'आदिम' ही नहीं था बल्कि उसमें सुख तथा औचित्य के तत्व भी विद्यमान थे, और यह जीवन नगरों के पतित, पैसे से खरीदे हुए तथा अस्वास्थ्यकर जीवन की तुलना में सरल, अज्ञात और आत्म-सन्तोषी था। अंग्रेजी भाषा के कई कवियों ने इस प्रकार के जीवन की प्रशंसा कुछ-कुछ ऐसे शब्दों में ी हैं जैसे काउले ने 'होरेशियन ओड्स' में से एक के अनुवाद में प्रयुक्त किए हैं :—

सुखी है मनुष्य जिसे प्रभु ने प्रदान किया
पैतृक भू-खण्ड निज हाथों से जोतने को
सृष्टि के प्रभात के सु-वर्ण, आदि मानव सा
हो कर स्वतन्त्र व्यवसाय और मुद्रा से
रक्षित है नियमों की प्रवंचना से, छल से,
महलों के अपमान सहने नहीं पड़ते हैं।

गृह-युद्ध तथा वर्तमान सुधारवादी आन्दोलन के फलस्वरूप 'प्रकृति' और जीवन अधिकाधिक आदर्शस्वरूप होते गए, यही वह स्थिति थी जब मनुष्य ईश्वर के साथ साक्षात्कार कर सकता था, इसी स्थिति में पवित्रतम गुणों पर आचरण किया जा सकता था। सबसे प्रसिद्ध लेखक पोलिश कवि सारबीवस्की ने अद्भुत उत्साह से स्वर्ण युग का आदर्श साहित्य में भरा, जिसके लिए बाइबिल में उल्लिखित 'भूस्थित स्वर्ग' का सिद्धान्त एक जीवित सत्य था। उससे वेल्स के वागां तथा इंग्लैण्ड के मार्वेल विशेषकर अपनी उद्यान सम्बन्धी कविताओं के सम्बन्ध में प्रभावित हुए दिखाई पड़ते हैं।

प्रकृति के पवित्र जीवनकी सरलता और सुन्दरता की धारणा के साथ-साथ यह धार्मिक सिद्धान्त भी प्रचलित था कि आदम और हउआ, जो सर्वप्रथम आदिवासी थे, अपने आप में पूर्ण थे—अरस्तू तो आदम का ही एक अवशेष है। डार्विन के पूर्व

का इतिहास शनैः शनैः ह्रास की ओर उन्मुख था और सभ्यता को उसका निरन्तर बिगड़ा हुआ रूप माना जाता था जो पहले प्रारम्भ में अपने आप में पूर्ण था। इसी के फलस्वरूप अगली शताब्दी में रूसो के प्रकृति-आन्दोलन को बल मिलता गया।

इसका एक परिणाम यह हुआ कि जीवन के प्रति एक नए दृष्टिकोण का उदय हुआ जिसे 'आदिमता' कहा गया है और जिसका लवज्वाय, बोआस तथा मारगरेट फिट्ज़जेराल्ड जैसे कई अमेरिकन विद्वानों ने विस्तार सहित अध्ययन किया है। इसे सांस्कृतिक आदिमता और कालानुक्रम आदिमता में विभाजित किया गया है। पहले प्रकार की 'आदिमता' के अनुसार आधुनिक 'असभ्य' समाजों को जीवन के सभी मूलभूत मूल्यों की दृष्टि से 'सभ्य' समाजों से अच्छा माना जाता है और दूसरे प्रकार की आदिमता के अनुसार सभ्यता से पूर्व का मानवीय जीवन सुखदतम और सर्वोत्तम था। आदम तथा अन्य आदिवासी हमसे अच्छे और अधिक सुखी थे, कुछ तो इस कारण कि वे हमसे पहले के हैं और कुछ इसलिए कि वे ईडन उद्यान को घेरे रहने वाली आन्तरिक रेखा से परे रहते थे।

सत्रहवीं शताब्दी की आदिमता के परिणामस्वरूप आदिम लोगों के प्रति अधिकाधिक रुचि पैदा हुई और उस काल के यात्रियों के एक महत्वपूर्ण अध्ययन में श्री आर० डब्ल्यू० फ्रान्ट्ज़ ने लिखा है : "कुछ सामुद्रिक यात्रियों को एक सार्वभौम तथा स्थिर नैतिकता के तथा तीन मूल गुणों---पवित्रता, उदारता तथा आत्म-संयम के विद्यमान होने का, जो सभी प्रकार के लोगों के लिए आवश्यक हैं चाहे वे अर्द्ध-सभ्य हों या पूरे जंगली, पता लगा"। कोई भी आदर्शवादी सरलता से यह परिणाम निकाल सकता था कि "अच्छा तथा उदात्त जीवन नगरों तथा शहरों में नहीं बल्कि अमेरिका के जंगलों या दक्षिणी सागर के द्वीपों के एकान्त वातावरण में बिताया जा सकता है।"

इसका एक मनोरंजक परिणाम यह हुआ कि बाद के साम्राज्यवादियों के विपरीत, जिन्होंने काली जातियों की अज्ञानता एवं अन्ध विश्वास को दूर करने तथा उन्हें उबारने के श्वेत जाति के दायित्व का औचित्य ठहराया, सर्वप्रथम उपनिवेशियों ने आदिवासी क्षेत्रों के निवासियों के जीवन का रोचकतापूर्ण ढंग से वर्णन करके श्वेत जातियों के लोगों को इन क्षेत्रों में बसने के लिए अधिकाधिक प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार जब वाल्टर हैमण्ड ने मेडागास्कर पर अपनी लघु पुस्तिकाएं लिखीं तो उनमें से पहली (१६४० में प्रकाशित) के बारे में उन्होंने लिखा "यह एक विरोधाभास ह जिससे यह सिद्ध होता है कि मेडागास्कर अथवा सेण्ट लारेंस नामक द्वीप के निवासी संसार के सबसे अधिक सुखी व्यक्ति हैं।" ऐसे लोगों के बीच में रहने के लिए कौन नहीं जाना चाहेगा?

आदिमवासियों को 'कठोर' और 'मृदुल' की श्रेणी में और विभाजित किया गया। ए० ओ० लवज्वाय अपनी पुस्तक 'डोक्यूमेण्टरी हिस्ट्री आफ प्रिमिटिविज़्म'

में लिखते हैं, "अत्यन्त प्राचीन काल में एक ओर शनि की प्रवन्ध-व्यवस्था के अन्तर्गत स्वर्ण यग के मनुष्य मृदुल आदिमवासी थे, और काल्पनिक हाइपरवोरियन लोग सामान्यतः मृदुल जंगली थे; दूसरी ओर सीथियन तथा गेटे लोगों जैसे उदारचरित जंगली और वाद में जर्मन लोग असभ्य, कठोर परिश्रमी लोग थे जिनके प्रति 'प्रकृति' न उदार थी और न ममतामयी। उनकी वहुत ही कम इच्छाओं तथा भोग-विलास की वस्तुओं और सभ्य जीवन की सुख-सुविधाओं के प्रति उदासीनता के लिए उनकी प्रशंसा की गई थी।" अभी हाल ही के दिनों में ताहिती अथवा वाली के मृदुल, यौवन से भरपूर तथा भव्य आदिमवासियों को कलाकारों और कवियों से प्रशंसा प्राप्त हुई है, जवकि भारत के उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश के परिश्रमी, कठोर आदिवासियों को सैनिकों से सम्मान प्राप्त हुआ है।

अपेक्षाकृत इतने प्रारम्भिक युग में भी, यह स्पष्ट है कि मनुष्य के आधुनिक समाज तथा इसके नियमों के कारण विकृत हो जाने से पूर्व उस समय यौनाचार की स्वच्छन्दता थी, मनुष्य पर कोई विशेष प्रतिवन्ध या बन्धन नहीं थे और यौनाचार उसके लिए एक सीधा-सादा सरल व्यापार था। महत्वपूर्ण वात तो यह है कि 'उदारचरित जंगली' इस संज्ञा का प्रयोग रूसो के मस्तिष्क की नहीं वल्कि श्रीमती एफ्रा वेन के मस्तिष्क की उपज थी, जो स्वच्छन्द प्रेम की प्रवल पोषक हैं तथा जिनकी कविताओं, कहानियों तथा नाटकों में सरल ग्राम जीवन के लाभों की कृत्रिम जीवन की निराशाओं के साथ तुलना की गई है।

उस स्वर्णिम युग में—जब मानव था युवा
जब सम्पूर्ण जाति में थी नवस्फूर्ति, वल
जव पथ-दर्शन करती थी क्षण-क्षण प्रकृति
सिखलाती थी जीना प्रथम मनुष्य को
अनायास अनुकूल तत्व थे टेरते
जव पवित्र सुख-भोग-हेतु प्रति देह को।

श्रीमती वेन के 'औरुनोको' का नायक, जो यद्यपि सूरिनाम का आदिम है, वहुत ही सज्जन व्यक्ति है जिसको 'सभ्य वनने' से इन्कार करने में वहुत आनन्द प्राप्त हुआ। श्रीमती वेन कोई मानवविज्ञानवेत्ता तो थी नहीं और उनका यह मान लेना गलत है कि आदिम व्यक्ति के लिए वाहरी शासन की कोई आवश्यकता नहीं थी (जो केवल शिक्षित व्यक्तियों के लालच और उनकी महत्वाकांक्षा को दवाने के लिए ही होता है) और उसने स्वतन्त्र प्रेम के आनन्दों का उपभोग किया। ऐसा ही भाव वाद को थाम्सन ने भी व्यक्त किया था।

इस शताव्दी के अन्य कवि, जिन्होंने 'जंगली' की प्रशंसा की, थे—थामस हेरिक— जिनकी 'द सवमेरीन वायज' शीर्षक कविता में दक्षिणी सागर के द्वीपों के लोगों का वर्णन 'अज्ञानता में प्रसन्न' तथा 'चिन्ता से कोसों दूर' इन शब्दों में

किया गया है; वैलर ने 'वैटल आफ दि समर आइलैण्ड्स' शीर्षक कविता में छायादार मादक सौन्दर्य एवं सरलता से भरपूर तथा केले के पत्तों से छायादार द्वीपों के निवासियों का सुन्दर चित्र खींचा है। इसके अतिरिक्त महान् ड्राइडेन ने स्वयं सुखद दिनों का अपनी प्रसिद्ध कविता में इस प्रकार उल्लेख किया है :

उस अतीत में जब न दासता के जघन्य कानून बने थे,
जब महान् वनचारी मानव फिरता था अरण्य में निर्भय।

इस काल के कवियों और यात्रियों की यह इच्छा हर्गिज नहीं थी कि इन आदिम व्यक्तियों का 'सुधार या उत्थान' किया जाए। वे उनके यहां जाकर उनके सुख-दुःख में हाथ बंटाने के इच्छुक थे। उनको संग्रहालय में रखने का कोई प्रश्न ही नहीं था, वे उनके भूस्थित स्वर्ग का आनन्द लेना चाहते थे।

इसके बाद की शताब्दी में कप्तान कुक तथा अन्य अन्वेषकों की सामुद्रिक यात्राओं से इन विचारों को समर्थन मिलता है। कप्तान कुक के अनुसार, हो सकता है कि आस्ट्रेलिया के वनचारी लोग संसार के सबसे दुष्ट व्यक्ति प्रतीत हों, परन्तु वस्तुतः "वे हम यूरोपीय लोगों से अधिक सुखी हैं क्योंकि वे अनावश्यक सुविधाओं से ही नहीं बल्कि उन आवश्यक सुविधाओं से भी पूर्ण अनभिज्ञ हैं जिनके लिए हम यूरोपवासी लालायित रहते हैं, वे उनका उपयोग न जानने के फलस्वरूप सुखी तथा प्रसन्न हैं।" ताहिती तथा फ्रन्डली आइलैण्ड्स की यात्राओं से उदारचित वनचारियों की इस स्थिति की और भी पुष्टि हुई।

इस विचारधारा का कुछ दार्शनिकों तथा क्रान्तिकारियों की अधिक प्रगतिशील विचारधारा के साथ, विशेषकर फ्रांस में, अच्छा और पूरा मेल बैठा। ऐसा मान लिया गया कि बुगांविले को प्रशान्त में जो कुछ प्राप्त हुआ, उससे 'मौलिक पाप का सिद्धान्त' निर्मूल-सा हो गया। मनुष्य की तुलना में बालक अधिक सुखी तथा प्रसन्न होता है। द्वीपवासियों की शान्तिपूर्ण तथा सच्ची सभ्यता के समक्ष आधुनिक समाज की वर्तमान स्थिति दिनोंदिन गिरती और खराब होती दिखाई पड़ती है, इसलिए इसे दूर ही रखना चाहिए। वनचारी मानवों के सम्बन्ध में दिदरो द्वारा लिखा हुआ लेख इतना घातक था कि इसे फ्रांसीसी इनसाइक्लोपीडिया के पेरिस संस्करण से निकाल दिया गया। एक महत्वपूर्ण वार्तालाप में, जिसको वह बुगांविले के ताहिती सम्बन्धी पत्र के पूरक होने का दावा करता है, दिदरो ने "अपने देशवासियों को इस नए ईडन (उद्यान) में सांप का पार्ट अदा करने के लिए बुरा-भला कहा है। उसमें वह एक वृद्ध द्वीपवासी को उससे यह मांग करते हुए दिखाता है कि वह वहां से चल दे और उन्हें (द्वीपवासियों को) शान्ति से रहने दे, नहीं तो उसके जैसे व्यक्ति एक हाथ में क्रास और दूसरे हाथ में बन्दूक लेकर उनको दास बनाने तथा उनके मस्तिष्क को गन्दा करने वहां आएंगे। दिदरो के अनुसार

सभ्यता सचमुच में एक प्रकार का विष है जो नैसर्गिक मनुष्य के मस्तिष्क में भर दिया जाता है और इस प्रकार हमारे अपने अन्दर एक ऐसा द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है जो हमारे जीवनपर्यन्त जारी रहता है। कृत्रिम मनुष्य के साथ नैसर्गिक मनुष्य का कभी भी मेल नहीं बैठता।"

इसके बाद नया यूरोपीय साम्राज्यवाद हमारे सामने आया और इसके साथ ईसाई पादरियों के कार्य-कलाप चारों ओर फैलने लगे। उपनिवेशियों तथा धर्म-प्रचारकों, दोनों को समानरूप से यह दिखाकर अपना औचित्य सिद्ध करना पड़ा कि वे धर्मविहीन संसार के लिए कितने आवश्यक हैं। इस समय से आदिम व्यक्तियों की निन्दा की जाने लगी। बिशप हेबर द्वारा किए गए वर्णन के अनुसार जावा में भी यद्यपि स्थिति अच्छी थी पर मनुष्य दुष्ट, अन्धा और अन्धकार में था।

हम जिनकी आत्माओं में आलोक है
उच्च ज्ञान का,
क्या हम तम में भूले हुए मानव को
वंचित रखेंगे जीवन के दीप से ?

इस प्रकार हम कुक तथा हाकवर्थ, वासवेल, रूसो तथा दिदरो के समय से काफी आगे चले आए हैं। उनकी दृष्टि में आदिम काल का व्यक्ति पतित नहीं था, वह आज के मनुष्य से काफी अच्छा था; हमें उससे बहुत कुछ सीखना था और उसका सबसे अधिक भला जो हम कर सकते थे, वह था उसको स्वतन्त्र छोड़ना। किन्तु धर्म-प्रचारक तथा उपनिवेशियों की दृष्टि में आदिम व्यक्ति 'मौलिक पाप के पुराने सिद्धान्त' को चरितार्थ करता था और उसकी रक्षा करना सबसे अधिक आवश्यक था।

इधर हाल के वर्षों में भी गोगां, आर० एल० स्टीवेन्सन, पियरे लोती तथा हरमेन मेलविले जैसे लोग हुए हैं जिन का कहना है कि 'आदिम व्यक्ति' केवल मात्र नीच प्रकृति का ही नहीं है बल्कि बहुत सी बातों में वह हमसे भी अच्छा है। हैम्प शायर की उत्तरी पहाड़ियों के अंग्रेजी किसानों के सम्बन्ध में जान कोलियर ने एक विशिष्ट विचार व्यक्त किया है, यद्यपि आजकल यह अमान्य है : "अपने जीवन में जिन-जिन लोगों से मैं मिला हूं, उन सबमें से ये लोग सबसे अच्छे हैं; कलाकारों, लेखकों अथवा किसी भी धनी व्यक्ति अथवा किसी भी मजदूर वर्ग के व्यक्ति की तुलना में जिन-जिन को मैं जानता हूं, ये लोग अधिक अच्छे हैं। इन लोगों की उन लम्पट मूर्खों से, जो इन्हें दूषित कर देंगे या इनसे घृणा करने वाले उन घमंडी मूर्खों से, जो इनको सुधारना चाहते हैं, रक्षा करने के लिए यदि मेरे पास अधिकार हो तो मैं किन-किन उपायों से कड़ाई के साथ काम लूंगा, उनको सुनकर आप हंसेंगे।"

आदिवासी की उच्चता की बात चाहे सही हो या गलत, यह तो निस्सन्देह स्पष्ट है कि इस सुझाव का कि उसे शान्ति से तथा सुखी रहने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाए, मानवविज्ञानवेत्ताओं से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

आजकल भारत में इस समस्या के सम्बन्ध में तीन विभिन्न दृष्टिकोण हैं । पहले की अंग्रेज़ी सरकार ने आदिवासियों को स्वतन्त्र छोड़ने का निर्णय किया । कुछ तो इस कारण कि जंगली सीमान्त क्षेत्रों में प्रशासन की व्यवस्था करना कठिन काम था और इसका कुछ लाभ भी नहीं था, कुछ इस कारण कि इन लोगों में राजनीतिक स्वतन्त्रता की भावना पैदा ही न हो पाए, और कुछ इस लिए, जैसा मैं सोचता हूं कि कुछ अधिकारी रूसो-दिदरो के इस सिद्धान्त के पूर्ण समर्थक थे कि ये लोग जैसे हैं उसी स्थिति में सुखी और अच्छे रहेंगे ।

इसके ठीक विपरीत 'आत्मसात कर लेने' की नीति है जो स्वतन्त्रता के बाद से बहुत लोकप्रिय होती जा रही है । ईसाई धर्मप्रचारक तथा हिन्दू समाज-सुधारक, दोनों अपने-अपने ढंग से, आदिवासियों को सभ्य देखना चाहते हैं और उनकी इच्छा है कि उनके घटिया किस्म के रीति-रिवाजों और विचारों का उन्मूलन हो जाए और वे ईसाई धर्म में या हिन्दू समाज में खप जाएं ।

कुछ आदिवासी क्षेत्रों में ईसाई धर्मप्रचारकों को काफी सफलता मिली और कुछ में नहीं । असम में उन्होंने लुशाई, खासी तथा नागा जाति के आदिवासियों के एक बहुत बड़े भाग को ईसाई बना लिया । ईसाई खासी लोग अभी भी मातृप्रधान समाज-व्यवस्था का पालन कर रहे हैं और लुशाई तथा नागा लोगों ने अपने जीवन के कुछ पहलुओं (विशेषकर अपनी अत्यन्त सुन्दर बुनाई) को आज भी कायम रख रखा है, किन्तु वे अपनापन (आदिवासी जीवन से सम्बन्धित) अधिकांश में खो चुके हैं और अर्द्ध-पाश्चात्य संस्कृति के रंग में रंग गए हैं ।

इसी प्रकार, अधिकांश राज्य सरकारों द्वारा प्रारम्भ किए गए, शिक्षा, सुधार तथा परिवर्तन सम्बन्धी लम्बे-चौड़े कार्यक्रमों से इन लोगों को बहुत से आर्थिक तथा सामाजिक लाभ तो प्राप्त होंगे, पर इनसे आदिवासी जीवन के पुराने अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के मूल्य समाप्त हो जाने की सम्भावना है । यद्यपि आदिवासी-कल्याण की भावना सभी जगह दिखाई पड़ती है, किन्तु इस भावना में आदिवासी संस्कृति के प्रति दिलचस्पी या सम्मान कहीं भी दिखाई नहीं पड़ता । अण्डों को फोड़े बिना आमलेट नहीं बनाया जा सकता । आदिवासियों को उन्हीं की स्थिति में कायम रखना सभ्यता की प्रगति की तुलना में कम महत्वपूर्ण माना जाता है ।

बहुत अधिक करने और बहुत कम करने की दो चरम सीमाओं के बीच एक तीसरी नीति भी है जो प्रधानमन्त्री श्री नेहरू की कही जाती है । संक्षेप में इस

नीति के अनुसार आदिवासी-जीवन और संस्कृति के प्रति सम्मान और आदिवासियों के प्रति प्रेम प्रकट किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप किसी भी प्रकार की उच्चता की भावना की गुंजाइश ही नहीं रहती। इसके माध्यम से आदिवासियों को आधुनिक जीवन के सर्वोत्तम लाभ सुलभ होंगे और वह भी इस ढंग से कि इससे उनका परम्परागत जीवन भी नष्ट नहीं होगा और उसमें जो गुण हैं, उनको और विकसित किया जा सकेगा। श्री नेहरू अपने कई महत्वपूर्ण भाषणों में आदिवासियों के प्रति अपने आकर्षण का जिक्र कर चुके हैं, उनके प्रति अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि वह उनके पास "एक साथी की भावना लेकर जाते हैं, उस व्यक्ति की तरह नहीं जो उनको देखने, उनका परीक्षण करने, उनको तोलने, उनको नापने तथा उनके बारे में रिपोर्ट देने या उनको किसी दूसरे प्रकार का जीवन बिताने के लिए राजी या बाध्य करने के लिए ही उनके पास पहुंचा हो।" उन्होंने अपनी बात को बलपूर्वक मनवाने के दृष्टिकोण के फलस्वरूप पैदा होने वाले कुपरिणामों के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ चेतावनी दी है। संसार के अन्य भागों के आदिवासियों पर पड़ने वाले तथाकथित यूरोपीय सभ्यता के विनाशकारी प्रभावों की ओर संकेत करते हुए, जिनसे "उनकी कला, कारीगरी तथा उनके रहन-सहन के सीधे-सादे ढंग समाप्त हो गए," उन्होंने कहा—"यदि हम रोकथाम न करें और भारतीय सभ्यता को अनुचित ढंग से फैलने दें तो अब कुछ हद तक उन पर इसका भी विनाशकारी प्रभाव पड़ने का भय हमारे सामने है।"

उन्होंने कहा—"मैं यह देखकर कुछ चौंक-सा जाता हूं कि केवल इसी देश में नहीं बल्कि अन्य बड़े देशों में भी लोग अपनी कल्पना या अपनी इच्छा के अनुसार दूसरों को ढालने या उन पर रहने-सहने का अपना विशेष ढंग थोपने को कितने उत्सुक हैं।" उन्होंने बताया कि वह स्वयं अभी तक इस सम्बन्ध में कोई निश्चय नहीं कर पाए हैं कि रहन-सहन का आधुनिक ढंग अच्छा है या आदिवासी ढंग। "कुछ मामलों में, मुझे पूरा विश्वास है, उनका तरीका अच्छा है।" "उनकी सभ्यता में बड़ी विभिन्नता है और बहुत-सी बातों में वे निश्चय ही पिछड़े हुए नहीं हैं।" "उनसे अपने (हमारे) रहन-सहन के ढंग की नकल करवाने में मुझे तो कोई तर्क दिखाई नहीं पड़ता।" उन्होंने आदिम भाषाओं को प्रोत्साहन देने के महत्व पर भी ज़ोर दिया जिससे ये भाषाएं केवल जीवित ही न रहें बल्कि इनका विकास भी हो। उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि उन्हें इतना संरक्षण तो अवश्य दिया जाना चाहिए कि "कोई भी बाहरी व्यक्ति उनकी भूमि अथवा जंगलों पर अपना अधिकार न कर सके और बिना उनकी मरज़ी और सद्भावना के उनके जीवन अथवा मामलों में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न कर सके।" उन्होंने इस बात की आशा प्रकट की कि आदिवासियों में अनुशासन की उच्च भावना, जीवन के आनन्द का उपभोग करने की शक्ति तथा नृत्य और संगीत

के प्रति प्रेम स्थायी रूप से बना रहेगा। कल्याण, शिक्षा, संचार-साधन और चिकित्सा सम्बन्धी सहायता की योजनाएं तो निस्सन्देह आवश्यक हैं, किन्तु "यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि हम उनके रहन-सहन के ढंग में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहते बल्कि हम तो उन्हें अपना जीवन बिताने में सहायता देना चाहते हैं।" उन्होंने फिर कहा—"भारत सरकार उनकी अपनी ही प्रतिभा तथा परम्परा के अनुरूप उनके विकास के लिए सहायता देने के लिए कटिबद्ध है।"

यही नीति असम के भूतपूर्व राज्यपाल श्री जयरामदास दौलतराम ने दुहराई थी। उन्होंने कहा—"प्रत्येक स्थान के भारतवासी राष्ट्र-निर्माण में उसी प्रकार भाग लेते हैं जैसे एक उद्यान को सुन्दरता प्रदान करने में प्रत्येक फूल। उद्यान की सामूहिक सुन्दरता और भव्यता के निर्माण में प्रत्येक फूल को अपने नियमानुसार फलने-फूलने, अपने रूप-रंग का विकास करने तथा अपनी सुगन्धि फैलाने का अधिकार है। मैं गुलाब को लिली में और लिली को गुलाब में परिवर्तित करना नहीं चाहता।"

हम न तो आदिवासियों को संग्रहालय की वस्तु की भांति सुरक्षित रखना चाहते हैं और न उनको सर्कस के विदूषक बनाना चाहते हैं। हम प्रगति में भी बाधा नहीं डालना चाहते किन्तु हम यह अवश्य चाहते हैं कि वह समयानुकूल हो। हो सकता है, हम उदारचरित वनचारी के अन्ध-विश्वास में आस्था नहीं रखते, किन्तु हम निम्न दास-वर्ग का भी निर्माण नहीं करना चाहते।

ऐसा दृष्टिकोण प्रशासन के लिए एक जटिल समस्या है। आत्मसात कर डालने की नीति के अर्थ मोटे तौर पर ये हैं कि आदिवासी जीवन के पक्ष में बहुत कुछ कहने को नहीं है। यदि ऐसा जीवन लुप्त हो जाता है तो यह कोई बड़ी बात नहीं होगी। 'पिछड़े' लोगों का विकास अवश्य ही किया जाना चाहिए तथा निम्न लोगों को ऊंचा उठाना है। यह एक सरल और सीधी-सादी नीति है। यह तर्कसंगत है और इससे बहुत-से लाभ होंगे—मगर उनकी कीमत चुकानी होगी। इसी प्रकार आदिवासियों को अलग-थलग छोड़े रखने की ब्रिटिश नीति थी जिसकी अपनी अलग कीमत चुकानी पड़ी।

नए दृष्टिकोण में, जो नेहरू का दृष्टिकोण है, कई कठिनाइयां हैं क्योंकि दुर्भाग्यवश आदिवासी-संस्कृति संसार की एक अत्यन्त सुकुमार संस्कृति है। इसका वर्णन हम उसी प्रकार कर सकते हैं जिस प्रकार आस्कर वाइल्ड ने 'भोले-पन' के विषय में कहा है: "यह सुकुमार है, इसको छूते देर नहीं लगती कि इसकी सौम्यता नष्ट हो जाती है।" आदिवासी समाज का रूप भारत में अभी भी किसी न किसी रूप में जीवित है जबकि बहुत-सी अन्य सभ्य आदिवासी जातियों का काफी नैतिक पतन देखने में आया है। हिन्दू धर्म की सहिष्णुता के प्रभाव से आदिवासी

धर्म में उच्च आचार-विचार का समावेश हुआ है तथा इसमें देवता सम्बन्धी एक उदात्त विचारधारा का जन्म हुआ है, किन्तु इसी के साथ-साथ उसमें नए देवी-देवताओं और प्रतिबन्धों का प्रादुर्भाव हुआ।

आदिवासी कला तथा संस्कृति पर सभ्यता का सामान्यतया उल्टा प्रभाव पड़ा। जब कोई आदिवासी बाजार में एक दुकान पर पहुंचता है तब आकल्पन और रंग आदि के प्रति उसकी अपनी विशिष्ट सुरुचि लुप्त होती दिखाई पड़ती है। पाश्चात्य वेशभूषा के प्रति बढ़ते हुए अनुराग के फलस्वरूप आदिवासियों की अपनी विचित्र वेशभूषा तथा सजावट सम्बन्धी सुरुचि तेजी से लुप्त होती जा रही है। दूसरी भाषा के माध्यम से शिक्षा दिए जाने के कारण आदिवासियों की भाषाएं नष्ट होती जा रही हैं। कुछ क्षेत्रों में तो नृत्य का नामोनिशान भी नहीं रह गया है और अन्य क्षेत्रों में यह बुरी तरह विकृत हो चुका है। बाहरी प्रतियोगिता के सामने आदिवासी कारीगर अपनी कला का स्तर अक्षुण्ण रखने में असहाय हैं।

इसलिए श्री नेहरू द्वारा प्रस्तुत कार्य कोई सरल कार्य नहीं है क्योंकि इसमें ऐसे कई आदर्श आ जाते हैं जिनको व्यवहार में लाना बहुत कठिन है। इनमें पहला है—आदिवासी समाज, संस्कृति, कला तथा भाषा के सर्वोत्तम तत्वों को सुरक्षित रखना, उनको सुदृढ़ करना तथा उनका विकास करना। दूसरा है—आदिवासियों के आर्थिक अधिकारों की रक्षा करना। तीसरा है—आदिवासियों को सम्पूर्ण भारत के साथ सच्ची हार्दिक एकता के रूप में सम्बद्ध करना जिससे वे भारत के जीवन में पूर्ण रूप से घुलमिल जाएं। और अन्तिम है—कल्याण तथा शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं का विकास करना जिससे देश के पहाड़ी और मैदानी क्षेत्रों के नागरिकों की भांति प्रत्येक आदिवासी को भी समान अवसर प्राप्त हो सके।

यह मौलिक और वास्तव में अद्वितीय दृष्टिकोण, जो वैज्ञानिक और मानवता से पूर्ण है, दो पुराने दृष्टिकोणों के बीच के मार्ग का निर्देश करता है, और यदि इसका उचित रूप से अनुसरण किया जाए तो इससे दोनों दृष्टिकोणों के लाभ प्राप्त होंगे और उनके दोषों से बचाव हो जाएगा। यह कठिन तो अवश्य है, पर है निस्सन्देह रूप से उचित। इसे मानवविज्ञान सम्बन्धी अनुभवों तथा इतिहास की चेतावनियों, दोनों का समर्थन प्राप्त है। यह धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों का घोषणा-पत्र है। यह आदर की भावना का प्रतीक है। यह मित्रता और समानता का एक उपदेश है।

इतिहास का यही सर्वप्रथम अवसर है जब वासवेल तथा जान्सन के, रूसो तथा विशप हेबर के परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों में सामंजस्य दिखाई पड़ता है। मानवविज्ञान से हमें जो अनुभव प्राप्त हुए हैं, उनके आधार पर हम आदिवासियों

के बारे में बिना किसी राग-विराग के विचार कर सकते हैं। आज के संसार में अलग-थलग पड़े रहना असम्भव है, और यदि ऐसा सम्भव भी हो तो वह वांछनीय नहीं होगा। चिड़ियाघरों तथा संग्रहालयों के सम्बन्ध में प्रचलित पुरानी विचार-धारा कभी की समाप्त हो चुकी है। वैज्ञानिकों को प्रसन्न करने के लिए अथवा पर्यटकों को आकर्षित करने के लिए हम आदिवासी संस्कृति को उसी रूप में सुरक्षित नहीं रखना चाहते। किन्तु अब हम यह अनुभव करने लगे हैं कि हमारी नकल किए बिना यदि आदिवासी अपनी विशेषताओं को सामान्य जीवन में गुम्फित कर देने में समर्थ होते हैं, तो वे भारत की सबसे बड़ी सेवा कर सकेंगे। हमें यदि आवश्यकता है तो उनके नैतिक गुणों, उनकी आत्मनिर्भरता, उनके साहस, उनकी कलापूर्ण कृतियों तथा उनकी प्रसन्न रहने की प्रवृत्ति की। उन्हें भी मित्रता की, प्रौद्योगिक ज्ञान की तथा मैदानी जीवन के व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता है। हमारे सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि आदिवासी जीवन की बहुमूल्य तथा असाधारण विशेषताओं को नष्ट किए बिना उनका किस प्रकार समन्वयात्मक रूप से विकास किया जाए ?

आदिवासियों की समस्या

नबेन्दु दत्त मजूमदार

भारत की कुल जनसंख्या ३५,६८,२९,४८५ है जिसमें से १,९१,११,४९८† अनुसूचित आदिमजातियों के लोग हैं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद ३६६ (२५) में 'अनुसूचित आदिमजातियों' की परिभाषा इस प्रकार की गई है : "ये ऐसी आदिमजातियों या ऐसे आदिम समाज अथवा ऐसी आदिमजातियों या आदिम समाजों के अंग या दल हैं जिन्हें संविधान के अनुच्छेद ३४२ के अन्तर्गत इस संविधान की दृष्टि से अनुसूचित आदिमजातियां माना गया है।" भारतीय संविधान के अनुच्छेद ३४२ की धारा (१) के द्वारा प्राप्त अधिकारों का पालन करते हुए राष्ट्रपति द्वारा जारी किए गए संविधान (अनुसूचित आदिमजातियां) आदेश, १९५० के अनुसार १४ राज्यों में २१२ आदिमजातियों को अनुसूचित आदिमजातियां घोषित किया गया है। ये आदिमजातीय लोग देश की कुल जन-संख्या के ५.३६ प्रतिशत हैं।

भारत की आदिमजाति-जनसंख्या को तीन मुख्य प्रादेशिक क्षत्रों में बांटा जा सकता है—उत्तर-पूर्वी क्षेत्र, मध्य क्षेत्र और दक्षिणी क्षेत्र। उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के अन्तर्गत हिमालय प्रदेश, तिस्ता घाटी के पूर्व में स्थित उत्तर-पूर्वी भारत की पहाड़ी और पर्वतमालाएँ तथा ब्रह्मपुत्र नदी का जमुना-पद्मा वाला भाग आते हैं। इस क्षेत्र में गुरुंग, लिम्बु, लेपचा, आका, डफला, अबोर-मिरी, मिश्मी, सिंगफो, मिकिर, राभा, कचारी, गारो, खासी, नागा, कुकी-लुशाई, चकमा तथा अन्य आदिमजातियां निवास करती हैं।

मध्य क्षेत्र में, जो गारो पहाड़ियों तथा राजमहल पहाड़ियों के बीच के अन्तर के कारण उत्तरपूर्वी क्षेत्र से अलग पड़ गया है, उत्तर में सिन्धु-गंगा के नदी-क्षेत्र से लेकर दक्षिण में लगभग कृष्णा नदी तक के पठार और पहाड़ आते हैं। इस क्षेत्र में सन्थाल, मुण्डा, ओराँव, हो, भूमिज, खड़िया, बिरहोर, भुइयां, जुआंग, कन्ध, सावरा, गोण्ड, बैगा, भील, कोली आदि मुख्य आदिमजातियां पायी जाती हैं।

दक्षिणी क्षेत्र में कृष्णा नदी से दक्षिण का भारत का भाग आता है। इस क्षेत्र के निवासी चेंचू, कोटा, कुरुम्ब, बडगा, टोडा, काडर, मलयन, मुथुवन, उरली, कणिक्कर आदि आदिमजातियों के हैं।

इन क्षेत्रों के अतिरिक्त एक छोटे और अलग पड़े हुए चौथे क्षेत्र का भी उल्लेख किया जा सकता है जिसके अन्तर्गत बंगाल की खाड़ी में स्थित अन्दमान तथा

---

†१९५१ की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार।

निकोबार द्वीपसमूह आते हैं। इस क्षेत्र में निवास करने वाली मुख्य आदिमजातियां जरव, ओंग, उत्तरी सेण्टिनली तथा निकोबारी हैं। संख्या की दृष्टि से ये आदिमजातियां छोटी हैं किन्तु मानवविज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

भारत की आदिमजातियों की भाषाएं केवल शेष भारत की भाषाओं से ही भिन्न नहीं हैं वल्कि उनमें आपस में भी भिन्नता पाई जाती है। आदिमजातियों की भाषाओं को तीन मुख्य वर्गों में वांटा जा सकता है — द्रविड़, ऑस्ट्रिक तथा चीनी-तिव्वती। द्रविड़ वर्ग की आदिमजातियों की भाषाओं में गोण्डी (गोण्ड लोगों द्वारा वोली जाने वाली), कुइ (कन्ध लोगों द्वारा वोली जाने वाली), कुरुख (ओराँव लोगों द्वारा वोली जाने वाली), माल्टो (मलपहाड़िया लोगों द्वारा वोली जाने वाली) तथा कई अन्य भाषाएं आती हैं। ऑस्ट्रिक वर्ग की आदिमजातियों की भाषाओं में सन्थाली, मुन्डारी, हो, खड़िया, भूमिज, कोरकू, सावरा, गडवा, खासी तथा निकोवारी भाषाएं हैं। आदिमजातियों की चीनी-तिव्वती वर्ग की भाषाएं दो वर्गों में वांटी जा सकती हैं—तिव्वती-वर्मी तथा स्यामी-चीनी। किन्तु अधिकांश भाषाएं तिव्वती-वर्मी शाखा की हैं जिनमें मुरमी, मगरी, लेपचा, वोदो, अवोर, मिरी, डफला, मिकिर, नागा, लुशाई आदि भाषाएं आती हैं। खाम्टी भाषा स्यामी-चीनी शाखा के अन्तर्गत आती है।†

भारत की आदिमजातियां न केवल भिन्न-भिन्न भाषाएं ही वोलती हैं वल्कि उनकी अपनी अलग-अलग संस्कृतियां भी हैं। आर्थिक-सामाजिक-धार्मिक जीवन के रहन-सहन के ढंगों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न आदिमजातियों की तथा भिन्न-भिन्न प्रदेशों में प्रचलित संस्कृतियां भिन्न-भिन्न हैं। भिन्न-भिन्न आदिमजातियां भिन्न-भिन्न ढंग से अपना जीवन-निर्वाह करती हैं जैसे कुछ खाद्य सामग्री इकट्ठी करके, कुछ शिकार करके तो कुछ चलती-फिरती खेती करके और कुछ एक जगह वस कर खेती करके। विरहोर, कोरुआ तथा हिल माड़िया आदिमजातियां खाद्य सामग्री इकट्ठी करके तथा शिकार करके अपना जीवन-निर्वाह करती हैं। वैगा, पौड़ी भुइयां, जुआंग तथा कुटियाकन्ध लोग चलती-फिरती खेती करते हैं। मुण्डा, सन्थाल तथा ओराँव लोग स्थायी रूप से खेती करते हैं। नागा लोगों ने नालियों द्वारा सिंचाई की सुविधा के साथ सीढ़ीदार खेती करने की प्रणाली का विकास कर लिया है।

आदिमजातियों की समाज-रचना में भी भिन्नता पाई जाती है। मातृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था वाले गारो तथा खासी लोग पितृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था को मानने वाले मुण्डा, सन्थाल तथा भारत की अन्य आदिमजातियों के साथ-साथ रहते हैं।

---

†देखिये—ग्रियर्सन, जी० ए०—"लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इण्डिया," तथा डा० सुनीति कुमार चटर्जी लिखित "लैंग्वेजेज आफ़ आदिवासिस" का सातवां अध्याय।

ओंग जैसी कुछ आदिमजातियां करीब-करीब नंगी ही रहती हैं जबकि भुइयाँ तथा गोण्ड जैसी आदिमजातियों की अपनी-अपनी वेशभूषा है। अधिकांश आदिम-जातियां बिल्कुल निरक्षर और गरीब हैं। आदिवासी-संस्कृति में साहित्यिक-शिक्षा अभी हाल ही की चीज़ है। लेखक को ऐसे कई जुआंग, बिरहोर तथा पौड़ी भुइयाँ लोगों से भेंट करने का अवसर मिला है जिनकी दृष्टि में उनके जातिभाई निरक्षर और जंगल के जंगली निवासी हैं।

ऐसा सामान्य रूप से सर्वविदित है कि आदिमजातियों तथा असम, बंगाल, बम्बई तथा भारत के अन्य राज्यों के मैदानी लोगों के बीच एक लम्बी-चौड़ी सामाजिक-सांस्कृतिक खाई है। भारत के विचारवान लोगों के सामने, विशेषकर, स्वाधीनता प्राप्त कर लेने के बाद से, जो समस्या सदा रहती है, वह यह है कि भारत में आदिमजातियों को क्या स्थान दिया जाए। सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक दृष्टि से इन का विकास किस प्रकार किया जाए और इन्हें शेष भारतवासियों के समान स्तर पर किस प्रकार लाया जाए। आदिवासियों को भारतीय समाज में भविष्य में क्या स्थान दिया जाए, इस विषय पर तीन मत प्रचलित हैं।

"विदेशी संस्कृतियों के प्रतिनिधियों के साथ भूतकाल में स्थापित हुए अनियन्त्रित सम्पर्क के परिणामस्वरूप उत्पन्न आदिवासियों की दयनीय सामाजिक-आर्थिक स्थिति को देखते हुए एक मत तो यह है कि ऐसे सभी प्रकार के सम्पर्क समाप्त होने चाहिएं और आदिवासियों को शेष भारत से बिल्कुल अलग-थलग उनके अपने प्राचीन पवित्र वातावरण में फलने-फूलने दिया जाए। अलग-थलग रखने की यह नीति भारतीय वातावरण के विरुद्ध है और इतिहास को पीछे धकेलने वाली है। भारत के दुर्गम भागों में पड़े आदिवासियों की संस्कृतियों पर सभ्यता के विकास की प्रक्रिया का हज़ारों वर्षों से प्रभाव पड़ता आ रहा है। इस सर्व-व्यापी प्रक्रिया से पत्तियों की वेशभूषा धारण करने वाले क्योंझर के जुआंग लोग या वल्लिगुडा प्रदेश के कुटियाकन्ध लोग भी मुक्त न रह सके। इस प्रक्रिया ने आदिमजातीय तथा गैर-आदिमजातीय, दोनों संस्कृतियों को प्रभावित किया। अलग-थलग रखने या रहने के अर्थ में सोचना आज सचमुच में एक बेकार बात होगी। आज आदिमजातीय तथा आदिमजाति-भिन्न संस्कृतियों के बीच कोई भी दीवार खड़ी नहीं की जा सकती।

"दूसरा मत यह है कि आदिवासियों को उनकी पड़ोसी आदिमजाति-भिन्न संस्कृतियों में पूर्णरूप से आत्मसात कर लिया जाए। पूर्ण आत्मसात करने की यह नीति भी भारतीय इतिहास की प्रवृत्तियों के समनुरूप नहीं है। संस्कृतियों के सम्पर्क तथा अन्तर-सांस्कृतिक आदान-प्रदान के हजारों

वर्षों के बावजूद भारतीय समाज पूर्णरूप से समरूप नहीं है। ऐतिहासिक विकास के क्रम में यद्यपि भारतीय समाज में कुछ ऐसी सांस्कृतिक विशेषताएं आ गई जो सचमुच में राष्ट्रीय हैं, तथापि इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारतीय समाज सन्थाल, गोण्ड, कन्ध, उड़िया, तेलुगु तथा कश्मीरी आदि स्पष्टत: भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के समागम से बना है। ऐसे सामाजिक-ऐतिहासिक प्रसंग में उन संस्कृतियों को पूर्णरूप से आत्मसात करने का विचार बिल्कुल ही व्यर्थ सिद्ध होगा जिनके पोषक लाखों की संख्या में हैं।

"तीसरा मत भारतीय समाज के साथ आदिमजातियों के एकीकरण के सिद्धान्त का समर्थक है। यह एकीकरण आत्म-सात्करण नहीं है बल्कि इसमें विभिन्न संस्कृतियों का एक साथ निर्वाह सम्भव है। सन्थाल, गोण्ड तथा कन्ध अपनी-अपनी विशिष्ट संस्कृति और अपनापन कायम रखकर भी भारतीय राष्ट्र के अभिन्न अंग बन सकते हैं। बंगला, मराठी, कश्मीरी, उड़िया तथा तेलुगु संस्कृतियों ने इतिहास के उतार-चढ़ाव में कभी भी अपनापन नहीं खोया और आज भी वे भारतीय समाज और राष्ट्र की अभिन्न अंग हैं। भारतीय आदिवासियों के सम्बन्ध में हमें इसका कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता कि हम एकीकरण (अलग-थलग रख छोड़ने या आत्मसात्करण के विरुद्ध) की सम्भावना के विषय में शंका करें। वयस्क मताधिकार के आधार पर हुए पिछले आम चुनावों में यह देखा गया कि उड़ीसा में आदिमवासियों ने चुनाव का बहिष्कार करने की अपेक्षा मतदान केन्द्रों में बड़े उत्साह के साथ भाग लिया और स्वतन्त्र भारत के नागरिकों की भांति अपने मताधिकार का प्रयोग किया। सबसे अधिक प्रतिशत मतदान आदिवासी क्षेत्रों में ही हुआ।

"भारत जैसे लम्बे-चौड़े देश में जिसमें विभिन्न संस्कृतियां पाई जाती हैं, स्वतन्त्र लोकतन्त्री राष्ट्रवाद का उदय केवल एकीकरण के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है। विभिन्न संघटक वर्ग अपने सामाजिक वैशिष्ट्य तथा परम्परागत पृष्ठ-भूमि को कायम रखते हुए कुछ अंशों में राष्ट्रीय संस्कृति की कुछ सामान्य बातों को ग्रहण करके राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास कर सकते हैं। सम्पूर्ण सामाजिक समरूपता के बिना भी एक ऐसे एकीकृत राष्ट्रीय राजनीतिक ढांचे का विचार संसार के इतिहास में कोई नई बात नहीं है। स्विट्ज़रलैण्ड हमारे लिए विभिन्न सांस्कृतिक वर्गों से मिलकर बने एक राष्ट्र का तथा उनके मिलजुल कर शान्तिपूर्वक रहने का एक ज्वलन्त उदाहरण है। अमेरिका विभिन्न जातियों तथा सांस्कृतिक वर्गों से मिलकर बना एक शक्तिशाली राष्ट्र है। सोवियत रूस एक ऐसा सुसंगठित राष्ट्र है जो भौतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त विभिन्न

प्रकार के अनेक मानव वर्गों से बना है जिसमें साइबेरिया की आदिमजातियों से लेकर सभ्य एवं औद्योगीकृत सफेद रूसी तक अनेक प्रकार के लोग हैं" ।*

\+ + +

आदिमजातियों के लोग शिक्षा प्राप्त करने और अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने की आवश्यकता महसूस करने लगे हैं । यह पूछने पर कि आदिवासियों का विकास किस प्रकार हो सकता है, हजारी बाग जिले में सीतागढ़ गांव के निवासी मुण्डा जाति के एक व्यक्ति ने, जो मिडिल तक की शिक्षा प्राप्त कर चुका है, उत्तर दिया कि (१) प्रत्येक परिवार को काफी कृषि-योग्य भूमि दी जानी चाहिए तथा (२) चिकित्सा, इंजीनियरिंग, कानून आदि की उच्चतर व्यावसायिक और प्रौद्योगिक शिक्षा की सुविधाएं दी जानी चाहिएं । इसी प्रश्न के उत्तर में हजारी बाग जिले में गोला-स्थित हाई स्कूल के एक मुण्डा स्नातक अध्यापक ने आदिवासियों के लिए उच्चतर शिक्षा तथा सरकारी नौकरियों में अच्छे स्थान दिए जाने की आवश्यकता पर बल दिया । रांची जिले के करगे गांव में ओरांव जाति के कई लोगों ने स्थानीय म्युनिसिपल प्राथमिक स्कूल को उच्च प्राथमिक स्कूल में परिवर्तित करने तथा अधिक कृषि-भूमि और सिंचाई की पर्याप्त सुविधाओं की मांग की । रांची जिले में अनिगारा गांव के एक निरक्षर मुण्डा निवासी ने यह इच्छा प्रकट की कि सरकार को कम व्याज की दर पर अनाज के बीज देने के लिए अनाज के अधिक गोलों की, बैल खरीदने के लिए ऋण की तथा अस्पतालों की व्यवस्था करनी चाहिए । उसने इस बात पर भी बल दिया कि प्रत्येक मुण्डा परिवार के कम से कम एक बालक को उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलना चाहिए जिससे वह खेती में लगे परिवार के अन्य सदस्यों की थोड़ी आय में पर्याप्त वृद्धि कर सके ।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है भारत के आदिवासियों की संस्कृति के अन्य पहलुओं तथा उनकी अर्थ-व्यवस्था में काफी भिन्नताएं हैं । पिछले पैरे में जो कुछ बताया जा चुका है, वह मुण्डा, ओरांव तथा सन्थाल जैसी आदिमजातियों के विषय में पूरे रूप से सत्य है । किन्तु इसके अलावा जुआंग तथा बिरहोर जैसी अन्य आदिमजातियां भी हैं जो अभी भी ऐसा आदिम सामाजिक—सांस्कृतिक जीवन बिता रही हैं कि उनकी दृष्टि में न तो पढ़ने-लिखने का कुछ मूल्य है और न वे यह मानती हैं कि किसी प्रकार उनकी आर्थिक स्थिति सुधारी जा सकती है । वे तो यही चाहते हैं कि उन्हें स्वतन्त्र छोड़ दिया जाए और उन्हें उनका परम्परागत जीवन बिताने दिया जाए । पर फिर भी यह सच है कि भारत के अधिकांश आदिवासी आज पढ़ने-लिखने तथा अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए बहुत उत्सुक हैं ।

*देखिए—नवेन्दु दत्त मजूमदार कृत "एबोरिजिनल ट्राइब्स आफ़ उड़ीसा ।" द मार्च आफ़ इण्डिया—नवम्बर-दिसम्बर १९५३, पृष्ठ ५६ ।

इस प्रकार, पूरे राष्ट्र का स्वार्थ और आदिवासियों का स्वार्थ-दोनों एक ही हैं। यदि भारत की जनसंख्या का एक बड़ा भाग पिछड़ा या अलग-थलग पड़ा रह जाता है तो उसके चतुर्मुखी विकास का अवरुद्ध हो जाना निश्चित-सा ही है। आदिवासी-क्षेत्रों में प्राप्त होने वाले प्राकृतिक संसाधनों को ध्यान में रखे बिना देश के आर्थिक विकास की राष्ट्रीय योजनाएं भी बनाई तथा कार्यान्वित नहीं की जा सकतीं, और न ही आदिवासी शेष भारत से अलग-थलग रहना चाहते हैं। आदिवासी क्षेत्रों में जब संचार-साधनों का कुछ भी विकास नहीं हुआ था, उस समय भी आदिवासियों तथा मैदान में रहने वाले लोगों के बीच विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध स्थापित थे और इसके परिणामस्वरूप इनके बीच बहुत काफी हद तक सांस्कृतिक तत्वों का परस्पर आदान-प्रदान हुआ। आज संचार-साधनों का तेजी से विकास होने की स्थिति में भारत में आदिवासियों का शेष जनसंख्या से अलग-थलग पड़े रहने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अलावा आदिवासियों के आर्थिक और शिक्षा सम्बन्धी विकास के उद्देश्य की पूर्ति, जिसकी मांग अब स्वयं आदिवासी ही कर रहे हैं, शेष भारत से अलग-थलग रहकर नहीं हो सकती।

आज की स्थिति में आदिवासियों की समस्या का एकमात्र व्यावहारिक हल भारत के राष्ट्रीय लोकतन्त्री संगठन के साथ आदिवासियों के एकीकरण से ही हो सकता है। इस प्रकार, भारत एक ऐसा राष्ट्र बन जाएगा जहां विभिन्न सांस्कृतिक वर्गों का एक-दूसरे के साथ समन्वय होगा। इसमें किसी भी प्रकार की संकीर्णता या कट्टरता का स्थान न रहेगा।

भारत के राष्ट्रीय लोकतन्त्री संगठन के साथ आदिवासियों के एकीकरण के लिए यह आवश्यक है कि आदिवासियों के आर्थिक और शिक्षा सम्बन्धी स्तर शेष लोगों के स्तर के समान हों। किन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न आदिवासी संस्कृतियों का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करना होगा, नहीं तो किसी भी आदिमजाति के आर्थिक और शिक्षा सम्बन्धी विकास के सम्बन्ध में किए जाने वाले उपायों का उसकी संस्कृति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह सकेगा और इस प्रकार उनका असफल होना स्वाभाविक ही है। उदाहरण के लिए, सदा घूमते-फिरते रहकर भोजन इकट्ठा करने वाले बिरहोर लोगों को एकाएक ही स्थायी रूप से कृषि में नहीं लगाया जा सकता। बिरहोर लोगों की संस्कृति में प्रचलित दस्तकारियों के आधार पर इनको सहकारी बस्तियों के रूप में संगठित करने के कार्यक्रम के सफल होने की सम्भावना अधिक है। रांची जिले में यह देखा गया है कि ओरांव नवयुवक मोटर-मेकेनिक के रूप में बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। ओरांव लोगों के बीच प्रौद्योगिक शिक्षा के प्रसार से आर्थिक विकास में काफी सहायता मिलने की सम्भावना है।

संहत (कम्पैक्ट) आदिवासी क्षेत्रों में प्रादेशिक स्वायत्तता का सिद्धान्त अपना लिए जाने से भारत के राष्ट्रीय और सामाजिक ढांचे में आदिवासियों के एकीकरण की प्रक्रिया में काफी सुगमता होगी। यह ठीक है कि स्वायत्त प्रदेशों में आदिवासियों का आर्थिक, शिक्षा सम्बन्धी तथा राजनीतिक विकास शेप राष्ट्र के समरूप होना चाहिए, किन्तु आदिवासी अपनी संस्कृतियों के अन्य पहलुओं का विकास अपने ही ढंग से करने के लिए स्वतन्त्र होने चाहिएं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आदिवासी सभ्यता के अन्य पहलुओं को परिवर्तित किए विना शिक्षा सम्बन्धी, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किए जा सकते। वास्तव में संस्कृति के विभिन्न पहलू इतने परस्पर सम्बद्ध हैं कि कुछ में किए जाने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप शेष पहलुओं में भी परिवर्तन आना स्वाभाविक है। किन्तु महत्वपूर्ण वात तो यह है कि आदिवासियों को न केवल अवश्यम्भावी सांस्कृतिक परिवर्तनों के अनुकूल बनने के लिए ही, वल्कि जहां तक सम्भव हो उन्हें अपनी परम्परागत संस्कृतियों के साथ तालमेल बैठाते हुए उनके संचालन के लिए भी स्वतन्त्रता और समय मिलना चाहिए।

आदिवासियों को उनकी अपनी अर्थ-व्यवस्था से उठा कर हमारी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के तथा उनके संगठन से उन्नत कर हमारे राष्ट्रीय राजनीतिक संगठन के अनुरूप बनाने का कार्यक्रम पूर्णरूप से सुनियोजित होना चाहिए और सम्बद्ध सामाजिक वर्गों की सांस्कृतिक रूपरेखा और उनके ढांचे की ओर पूरा-पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, भारत के राष्ट्रीय लोकतन्त्री संगठन के साथ आदिवासियों का अपेक्षित एकीकरण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि उन्हें उनकी परम्परागत संस्कृति से एकदम ही अलग न कर दिया जाए जिससे कि उन्हें अपूर्य भौतिक और मनोवैज्ञानिक क्षति न पहुंचे।

भारत के आदिवासी : संक्षिप्त परिचय

बी० एस० गुह

आदिवासी शब्द का प्रयोग भारत की आदिमजातियों के लिए ही किया जाता है परन्तु किसी भी प्रकार उनका अपमान करने की भावना से नहीं बल्कि यह संकेत करने के लिए कि वे इस देश के वर्तमान निवासियों में सबसे प्राचीन हैं। सबसे हाल की जनगणना के अनुसार इन लोगों की संख्या १ करोड़ ९० लाख से भी अधिक है। सभी जातियों की न तो संस्कृति एक है और न ही ये एक भाषा बोलती हैं और न इनकी एक ही मूल जाति है। इन सभी बातों में इनमें पर्याप्त अन्तर पाया जाता है।

मोटे रूप से इनके क्षेत्रों के आधार पर हम इन्हें तीन वर्गों में बांट सकते हैं। प्रथम वर्ग की जातियां उत्तरी तथा उत्तर-पूर्वी पर्वत-घाटियों और भारत के पूर्वी सीमान्त प्रदेशों में रहती हैं। दूसरे वर्ग की जातियां मध्यवर्ती भारत की उन प्राचीन पहाड़ियों और पठारों में रहती हैं जो दक्षिण भारत को सिन्धु-गंगा के मैदान से पृथक करते हैं। तीसरे वर्ग की जातियां वे हैं जो भारत के सुदूरवर्ती दक्षिण-पश्चिमी भागों की पहाड़ियों और पूर्वी तथा पश्चिमी घाटों के किनारों पर रहती हैं। यद्यपि इन तीनों वर्गों की जातियों में काफी हद तक समान तत्व विद्यमान हैं तथापि भाषा, संस्कृति और शारीरिक विशिष्टताओं के कारण ये अलग-अलग पहचानी जा सकती हैं। इन आदिमजातियों का सांस्कृतिक तथा प्रादेशिक विभाजन आकस्मिक नहीं है बल्कि यह उनके इस देश में विभिन्न कालों में आने, उनकी प्रकृति तथा उनके मूल निवास स्थानों के कारण है।

यदि हम उपर्युक्त तीनों वर्गों में से अन्तिम वर्ग की जातियों को अर्थात् १६° अक्षांश रेखा से नीचे बसने वाली दक्षिण भारतीय जातियों को लें तो पता चलता है कि वे वायनाड से कुमारी अन्तरीप तक फैले हुए पश्चिमी घाटों के सुदूर दक्षिणी भाग में मुख्य रूप से बसी हुई हैं। इन जातियों का इन प्रदेशों में बसना, तथा संगमकालीन प्राचीनतम तमिल साहित्य के अभिलेख दोनों ही इस बात के प्रमाण हैं कि ये भारत में रहने वाली वर्तमान जातियों में सबसे पुरानी जातियां हैं जो देश में अधिक समुन्नत जातियों के अनधिकार प्रवेश के कारण अपने वर्तमान क्षेत्रों में जाने के लिए विवश हो गई थीं क्योंकि यहां उन्हें नित्य-प्रति बढ़ते हुए दबाव के विरुद्ध आश्रय और सुरक्षा मिल सकती थी।

चेंचू जाति का वास उत्तर-पूर्व से लेकर कृष्णा नदी के पार नल्लइमल्लइ पहाड़ियों में तथा हैदराबाद राज्य में है। पश्चिमी घाट के किनारे-किनारे दक्षिण

कर्नाटक की कोरगा से लेकर कुर्ग की पहाड़ियों की निचली ढलानों पर रहने वाली यूरुव, वायनाड की ईरुल, पणियन और कुरुम्ब जातियों के अलावा कोचीन तथा तिरुवांकुर की पहाड़ियों से लेकर कुमारी अन्तरीप तक और निर्जन जंगलों में काडर, कणिक्कर और मलपन्तरम जैसी भारत की सबसे प्राचीन आदिम जातियां रहती हैं जिनमें अभी तक उनकी बहुत-सी प्राचीन परम्पराएं प्रचलित हैं।

नीलगिरि पहाड़ियों में रहने वाली टोडा, बड़गा और कोटा जातियों को छोड़कर जिनका एक अलग आर्थिक अस्तित्व है, इन शेष आदिवासियों के जीवन का मूल आधार आखेट और खाद्य पदार्थों को इकट्ठा करना ही है क्योंकि इनमें अभी तक एक सुव्यवस्थित सामुदायिक जीवन का विकास नहीं हो पाया है और ये भोजन की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमते रहते हैं। खोदने की लकड़ी और नुकीली कील जैसे सादे औज़ारों की सहायता से ये खाने योग्य कन्द-मूल, मधु आदि का संग्रह करते और चिड़िया और छोटे जानवर आदि का आखेट करते हैं क्योंकि उनके जीवन के मुख्य आधार ये वस्तुएं ही हैं। आग घर्षण अथवा बरमे से उत्पन्न की जाती थी और अभी कुछ ही दिन पूर्व तक वेश-भूषा के नाम पर ये केवल छाल अथवा पत्तों का बना हुआ लबादा पहना करते थे।

उनका सामाजिक ढांचा एक दोहरे संगठन पर आधारित है। मुख्य अधिकार मुखियों के हाथ में रहते हैं जो झगड़ों का फैसला करते हैं और आखेट से सम्बन्धित संस्कारों को पूरा करते हैं। ये मातृसत्तात्मक समाज व्यवस्था के अनुयायी हैं और इनमें उत्तराधिकार का प्रश्न 'मरुमक्कथ्यम' कानून के अनुसार तय होता था। काडर जैसी कुछ जातियों में सौन्दर्य-वर्धन के लिए दांतों को रेतने और शरीर को गुदवाने की प्रथा प्रचलित है। अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है कि इनकी मूल भाषा अथवा भाषाएं क्या थीं। अब ये जिन प्रदेशों में रहते हैं अथवा जिन लोगों के साथ सम्पर्क में आते हैं उनके अनुसार ये मलयाली, तमिल, तेलुगु अथवा कन्नड़ जैसी प्राचीन द्रविड़ भाषाओं के अपभ्रंश रूप बोलते हैं।

शरीर से वह नाटे और मध्यम कद के होते हैं। उनका रंग गहरा चाकलेट-भूरा, नाक चौड़ी, चपटी और ओंठ मोटे होते हैं। उनका सिर लम्बा और शरीर सुगठित होता है। पहाड़ियों के आन्तरिक भागों में, विशेष रूप से काडर, ईरुल और पुलयन जाति के लोगों के मलानीशियन लोगों के समान छोटे और घुंघराले बाल होते हैं जो अन्दमान द्वीप की आदिमजातियों के छोटे और उलझे बालों से भिन्न हैं। यह एक मनोरंजक बात है कि रक्त की कुछ विशेषताओं में ये बहुत कुछ मलानीशियन और पूर्वी अफ्रीकी नीग्रो आदिमजातियों से मिलते-जुलते हैं। आजकल इन जातियों का काफी सम्मिश्रण हो गया है और मूल रूप से ये जातियां केवल सबसे आन्तरिक भागों में ही पाई जाती हैं।

आदिवासियों के प्रमुख वर्गों में से द्वितीय वर्ग की जातियां नर्बदा और गोदावरी के बीच पहाड़ी भाग में रहती हैं। यह पहाड़ी भाग उत्तर भारत और दक्षिण भारत को एक-दूसरे से अलग करता है और बहुत प्राचीन काल से ही इन आदिवासियों का निवास स्थल रहा है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में इन लोगों के साथ युद्ध के उल्लेख मिलते हैं और इनकी मुख्य शारीरिक विशेषताओं का चित्रात्मक वर्णन है। ये लोग कई लाख की संख्या में हैं और भारत के आदिवासियों का बहुत बड़ा भाग इन्हीं जातियों का है। अकेले सन्थालों की ही संख्या २५ लाख से ऊपर है।

पूर्वी घाट और उड़ीसा की पहाड़ियों में रहने वाली खोण्ड, भूमिज तथा भुइया जातियां इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाली अन्य प्रमुख आदिमजातियों में से हैं। मुण्डा, ओरांव, हो और बिरहोर जाति के लोग छोटा नागपुर के पठारों में रहते हैं। इससे आगे बढ़कर पश्चिम में विन्ध्याचल के पहाड़ी प्रदेश में कोल और भील रहते हैं। भील जाति के लोग तो उत्तर-पश्चिम में अरावली की पहाड़ियों तक निवास करते हैं। संख्या की दृष्टि से सन्थालों के बाद गोण्ड जाति का स्थान है। ये लोग गोण्डवाना में रहते हैं और दक्षिण में हैदराबाद और उससे मिले हुए कांकर तथा बस्तर प्रदेश तक में फैले हुए हैं।

सतपुड़ा पर्वतमाला के दोनों ओर और मैकल पहाड़ियों के चारों ओर भी इसी प्रकार की आदिमजातियां जैसे कोरकू, अगारिया, परधान और बैगा आदि रहती हैं। बस्तर प्रदेश की पहाड़ियों में कुछ अत्यन्त उल्लेखनीय आदिम जातियां जैसे मुरिया, अबुझमार पहाड़ियों के पहाड़ी माड़िया और इन्द्रावति घाटी के भैंसों का सींग लगाने वाले माड़िया लोग रहते हैं। दक्षिणी वर्ग के विपरीत इनकी मूल भाषाएं अभी तक प्रचलित हैं यद्यपि भील, कोल, गोण्ड और ओरांव जातियों ने आर्य और द्रविड़ परिवारों की बोलियां अपना ली हैं। इस परिवार की मूल भाषा जो अभी भी काफी हद तक प्रचलित है, आस्ट्रिक भाषा-परिवार की मुण्डा शाखा से सम्बन्धित है। यह नाम पूर्वी एशिया और ओशनिया में बोली जाने वाली अनेक भाषाओं के विशाल समूह को अपनी जन्मभूमि आस्ट्रिया के नाम पर श्रीयुत पी० डब्ल्यू शिमट ने दिया था परन्तु भारतवर्ष में गोदावरी नदी के दक्षिण में यह भाषा नहीं मिलती। आस्ट्रिक एक ऐसी संयुक्त भाषा है जिसमें प्रत्ययों और उपसर्गों का तो असाधारण रूप से विकास हुआ है परन्तु खासी लोगों की भाषा को छोड़कर इसमें पुल्लिग और स्त्रीलिंग का कोई संकेत नहीं मिलता। इसमें जड़ और चेतन के आधार पर वस्तु-भेद किया जाता है।

साधारणतया ये आदिमजातियां दक्षिण के आदिवासियों की अपेक्षा अधिक उन्नत हैं। आखेट करने और खाद्य पदार्थों का संग्रह करने के बदले ये जातियां

कुल्हाड़ी और फावड़े आदि औजारों की सहायता से स्थान परिवर्त्ती खेती-बाड़ी करती हैं। मध्यवर्ती पहाड़ियों और पठारों के आन्तरिक भागों में रहने वालों को छोड़कर ये लोग अपने हिन्दू पड़ोसियों की संस्कृति से काफी प्रभावित हुए हैं और इन्होंने उनके रीति-रिवाजों आदि को भी बड़ी उदारतापूर्वक अपना लिया है।

प्राचीन समय में वे लोग कुछ छाल के बने हुए वस्त्र पहनते थे और क्योंझर तथा पाल लहरा जैसे स्थानों में रहने वाले जुआंग आदि आदिवासियों के सारे वस्त्र पत्तों के ही बने होते थे। अब ये अपने हिन्दू पड़ोसियों से खरीदकर मिल के बने हुए सूती वस्त्र पहनते हैं। ये लोग बुनाई के काम से अनभिज्ञ रहे हैं परन्तु टोकरी बनाने और लकड़ी पर खुदाई करने का काम खूब अच्छी तरह जानते हैं। ये मजबूत झोंपड़ियां बनाकर सुव्यवस्थित समुदायों में रहते हैं और इनका सामुदायिक जीवन गांव के मुखिया के नेतृत्व में अपेक्षाकृत अधिक सुसंगठित रहता है। इनमें से सन्थाल जैसी अधिक सभ्य आदिमजातियों में तो न केवल 'धीरी' (ग्राम परिषद्) ही होती है, बल्कि गांवों के झगड़ों का निपटारा करने के लिए एक शिकार परिषद् या सर्वोच्च परिषद् भी होती है जिसका चुनाव समूची जाति के लोग पूर्ण लोकतन्त्रीय ढंग से करते हैं।

सामान्यत: ये आदिमजातियां पितृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था को मानती हैं और विवाह बन्दी बनाकर होते हैं। इनके सामाजिक जीवन के केन्द्र 'धूमकड़िया' होते हैं जो अविवाहित छात्रावास होते हैं। इसी प्रकार बस्तर की मुरिया जाति में भी घोटुल नामक संस्था का आश्चर्यजनक विकास हुआ है जहां लड़के (चेलिक) और लड़कियां (मोतियार) दोनों ही रखे जाते हैं। इनमें कुमार और युवा लड़के-लड़कियों को कठोर अनुशासन सिखाया जाता है और उन्हें गांव के लिए अनवरत परिश्रम करना पड़ता है। इन आदिमजातियों के जीवन में लोक-नृत्य तथा संगीत का विशेष महत्व है और 'धूमकड़िया' इनके केन्द्र होते हैं। शारीरिक रचना की दृष्टि से ये छोटे और मध्यम कद के होते हैं। इन का रंग काला, सिर लम्बा और बाल सामान्यत: घुंघराले पर बिना लच्छों के होते हैं। इनकी मुख्य विशेषता यह है कि इनके माथे का निचला हिस्सा इनकी छोटी, चौड़ी और दबी हुई नाक से जुड़ा रहता है। शरीर रचना की दृष्टि से इनका आस्ट्रेलिया के आदिवासियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है जिनमें ये विशेषताएं स्पष्ट देखी जा सकती हैं। इनका शरीर सुदृढ़ और सुगठित होता है। दक्षिण भारत के आदिवासियों के विपरीत जिनमें रक्त के 'ए' कणों का आधिक्य होता है इनमें 'बी' कणों की अधिकता पाई जाती है।

तृतीय वर्ग की आदिमजातियां समस्त हिमालय की तराई में और भारत के पूर्वी सीमान्त प्रदेशों की पर्वत घाटियों में जो दक्षिण-पूर्व में अदृश्य रूप से बर्मा की पर्वत-घाटियों म मिल जाती हैं, निवास करती हैं। बलिपुर, अबोर और मिशमी

पहाड़ियों के प्रशासकीय जिलों के अन्तर्गत आने वाले असम और तिब्बत के बीच के क्षेत्रों में रहने वाली आदिमजातियों में सुवनसिरि नदी के पश्चिम में अका, डफला, मिरी और अपातमी और डिहोंग घाटी में गलोंग, मिनयोंग, पासी, पदम और पंगी जातियां उल्लेखनीय हैं।

मिशमी आदिमजातियां डिवंग और लोहित नदियों के बीच की ऊंची पहाड़ियों में रहती हैं। पूर्व की ओर खमटी और सिंहपो जातियां पाई जाती हैं और उसके आगे दक्षिण में पटकोई के दोनों ओर की पर्वत-घाटियों में विभिन्न नागा आदिम-जातियां रहती हैं। यह घाटियां भारतीय सीमान्त प्रदेशों से आगे बढ़कर वर्मा की हुकवांग घाटी तक फैली हुई हैं।

नागा आदिमजातियों को पांच प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—उत्तर में रंगपण और कोन्यक; पश्चिम में रेंगमा, सेमा और अंगामी; मध्य में आओ लोहता, फोम, चग, सन्थम और यिम्स्तसुंगर; दक्षिण में कचा और कावुई तथा पूर्वी क्षेत्रों में तंखुल और काल्यो-केंगु। मणिपुर, त्रिपुरा और चिटगांव के पर्वतीय प्रदेशों से लेकर वर्मा की अराकान पहाड़ियों तक विस्तृत नागा पहाड़ियों के दक्षिण में कूकी, लुशाई, लाखेर, चिन आदि जातियां रहती हैं जिनमें से बहुत सी जातियां यथार्थ में सीमान्त पार के प्रदेशों से आई हैं।

वास्तव में भारत के उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेशों में पटकोई से चिन पहाड़ियों तक असम और वर्मा के बीच जाति सम्बन्धी कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं है और इन जातियों में सांस्कृतिक और जातीय दोनों दृष्टियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह जातियां तिब्बती-चीनी परिवार की भाषाएं बोलती हैं जो मूल रूप से एक स्वरीय हैं, यद्यपि असम की आदिमजातियों में कुछ सीमा तक सरल परन्तु संयुक्त अक्षरों का प्रयोग आरम्भ हो चला है। इन भाषाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें क्रिया नहीं होती जिसके कारण इन भाषाओं में सूक्ष्म भावनाओं और उच्च विचारों को व्यक्त करना कठिन हो जाता है यद्यपि स्थूल विचारों को व्यक्त करने की ये बहुत अच्छी माध्यम हैं। इनमें से कुछ जातियों में, जैसे खासी जाति में आस्ट्रिक परिवार की एक शाखा 'मोन ख्मेर' भाषा बोली जाती है।

सिक्किम और दार्जिलिंग के उत्तरी भागों में बहुत सी पुरानी आदिमजातियां हैं जिनमें लेपचा जाति सबसे अधिक प्रसिद्ध है। हिमालय की तराई के पूरे भाग में लेपचा और गलौंग जैसी अनेक जातियों में बहु-पति की प्रथा प्रचलित है परन्तु मुख्यतः एक विवाह का ही प्रचलन है और सम्भवतया उनके समाज का मूलाधार मातृसत्तात्मक है। इसका पूर्ण विकास हमें खासी और गारो जातियों में मिलता है जिनके समाज में स्त्रियों को जितना सम्मान दिया जाता है उतना अन्य किसी

जाति में नहीं। इनमें से कुछ जातियां अभी तक मृतक के सम्मान में पत्थर के स्मारक बनवाती हैं।

उत्तर-पूर्व सीमान्त वर्ग के आदिवासियों की संख्या भी काफी है यद्यपि उनकी कुल संख्या भारत के मध्यवर्ती वर्ग के आदिवासियों जितनी नहीं है। कछार पहाड़ियों के दीमापुर और वहां की पर्वत घाटियों के विभिन्न भागों में प्राप्त विशाल पत्थरों के अवशेषों से ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से बहुत सी जातियां भारत में काफी पहले आ गई थीं यद्यपि उपर्युक्त दोनों वर्गों के पहले नहीं। इन लोगों का सामाजिक संगठन सादा है और ये निरन्तर आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं परन्तु फिर भी ये काफी विकसित हैं और इन्हें किसी भी प्रकार पिछड़ा हुआ नहीं कहा जा सकता।

मणिपुर और नागा पहाड़ियों में रहने वाली पूर्वी वर्ग की आदिम जातियों ने पहाड़ों की ऊंची-नीची सीढ़ीनुमा पट्टियों में खेती करने में काफी प्रगति कर ली है, परन्तु उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में अभी तक स्थान-परिवर्ती कृषि की ही प्रथा प्रचलित है। कुछ जातियों में स्त्री और पुरुष दोनों के लिए कुछ सुसंगठित संस्था 'धूमकड़िया' पाई जाती है जहां युवा-युवतियों को केवल उनके प्राचीन जातीय जीवन की ही शिक्षा नहीं दी जाती वरन् उनके प्राचीन आख्यानों, संगीत, नृत्य और कला की परम्पराएं भी सुरक्षित रखी जाती हैं।

उत्तर-पूर्वी भारत की अधिकांश आदिमजातियों में छोटे करघों पर बुनाई की कला पूर्ण समुन्नत अवस्था में विद्यमान है जो सम्भवत: उन्होंने तिब्बत से सीखी होगी। कपास, चावल और ज्वार-बाजरा, जंगल जला कर साफ किए गए (झूम) खेतों में पैदा किए जाते हैं और बुनाई-कताई का काम स्त्रियां करती हैं। इन जातियों का समस्त संगठन सैनिक-संगठन है। ये अपने गांव पहाड़ की चोटियों पर अथवा ऐसे सुविधाजनक स्थानों पर बसाती हैं, जहां शत्रुओं के अनवरत आक्रमणों से रक्षा की जा सके।

इनमें से बहुत सी जातियों में, विशेष रूप से नागा जाति में नरमुण्ड का शिकार करने की एक विचित्र प्रथा है। ये जातियां आत्मा की शक्ति में विश्वास करती हैं अर्थात् इनका विचार है कि शरीर के पंच भूतों के अतिरिक्त एक सूक्ष्मतर शक्ति और है जो व्यक्ति को जीवन और बल प्रदान करती है तथा जो एक विशेष समय पर विशेष स्थान अथवा विशेष जाति में एक निर्धारित मात्रा में ही होती है? इनका विश्वास है कि यदि आत्मा की शक्ति क्षीण हो जाती है तो फसल खराब होने लगती है और बीमारियां फैलती हैं। इस प्रकार की आपत्तियों से बचने के लिए आत्मा की अतिरिक्त शक्ति की आवश्यकता होती है। इसलिए जिस परिवार

अथवा जाति को ऐसी आवश्यकता हो, वह नरमुण्ड का शिकार करके और खोपड़ियों को घर में रखकर क्षीण शक्ति पुनः प्राप्त कर सकती है। नरमुण्ड का शिकार करने की यह प्रथा नागा जातियों तक ही सीमित नहीं है परन्तु भारतीय सीमा के पार ओशनिया और मलानीशिया में भी प्रचलित है। इसका आधार वही पुराना विचार है जिसके अनुसार व्यक्तिगत अथवा जातीय समृद्धि बढ़ाने के लिए मनुष्यों की बलि दी जाया करती थी।

शारीरिक रचना की दृष्टि से उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेशों की आदिमजातियां मंगोल होती हैं। इनकी त्वचा हल्की, बाल सीधे और नाक चपटी होती है। इनकी आंखों को देखने से ऐसा लगता है जैसे आधी बन्द और आधी खुली हुई हों और पलकों के ऊपरी भाग ने आंख को आधा या पूरा ढक लिया हो। इनके पलकों की ऊपरी परत मंगोलों की भांति भारी और मोटी होती है। अधिकांश आदिमजातियां मध्यम कद और लम्बे सिर वाली हैं परन्तु तिब्बती सीमान्त प्रदेशों में रहने वाली कुछ आदिमजातियों में लोगों का सिर और चेहरा गोल होता है। इन लोगों के रक्त में भारत के अन्य आदिवासियों के विपरीत 'ए', 'बी' और 'ओ' प्रतिजन का अनुपात अधिक उचित मात्रा में पाया जाता है। इन सभी जातियों में स्त्री और पुरुष, दोनों के शरीर सुगठित और पिंडलियों की मांसपेशियां अत्यधिक विकसित होती हैं। इन जातियों के लोग पहाड़ों पर चढ़ने में बहुत कुशल होते हैं और पहाड़ों के दुर्गम रास्तों से काफी भार ले जा सकते हैं। ये स्वस्थ, परिश्रमी, और स्वतन्त्र विचारों के होते हैं। सामान्य पहाड़ के निवासियों के समान इनके जीवन में एक ओर कठोर परिश्रम और दूसरी ओर स्वस्थ मनोरंजन का सुन्दर सामंजस्य होता है जिससे इनका जीवन सुखद बना रहता है।

इस प्रकार भारतीय आदिवासियों के इन तीनों वर्गों के अध्ययन से हमें इनके आखेट करने और खाद्य पदार्थों का संग्रह करने की स्थिति से लेकर एक निश्चित और संगठित सामुदायिक जीवन तक के, जिसमें उनकी आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार संस्कृति का विकास हुआ है, विकास-क्रम की विभिन्न अवस्थाओं का पता चलता है। साथ ही इससे हमें इनके मूल स्थानों और वहां से इनके भारत में आने के समय और इनके इतिहास के उत्थान-पतन के भी अनेक प्रमाण मिल जाते हैं। संक्षेप में ये हमारे देश के आदिवासी अथवा प्राचीनतम निवासी हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत की आज की समृद्ध सभ्यता अपनी अनेक विशेषताओं के लिए इन लोगों की ऋणी है। इन्हें हेय न समझ कर हम इनसे स्वस्थ और भावनात्मक रूप से संतुलित जीवन तथा विचारों और कार्यों की सचाई और ईमानदारी के क्षत्र म बहुत-कुछ सीख सकते हैं।

दक्षिण और दक्षिण-पश्चिमी भारत के आदिवासी

ए० अय्यप्पन

दक्षिण भारत में जहां आज तेलुगु-भाषी जातियां रहती हैं, प्राचीन काल में वहां ब्राह्मण राजवंश के—सातवाहन अथवा आंध्र—राजा राज्य करते थे। यद्यपि आंध्र राजाओं के गोत्र और पदवियां ब्राह्मणीय होती थीं, वे वैदिक यज्ञादि करते थे और वैदिक धर्म को प्रोत्साहन देते थे, परन्तु फिर भी वे जिस अन्ध अथवा आंध्र जाति के थे उसको ऐतरेय ब्राह्मण में अनार्य कहा गया है। कुछ प्राचीन उत्कीर्ण लेखों के अनुसार सातवाहन शूद्र जाति के माने गए हैं। आन्ध्र, सालंकयन, कदम्ब, चालुक्य आदि के बाद और भी बहुत से दक्षिण भारतीय राजवंश ब्राह्मण माने जाते हैं। कदम्ब राजवंश का जन्मदाता मौर्य शर्मण, जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है, ब्राह्मण था, और द्रोणाचार्य की भांति उसने भी क्षत्रिय वर्ण को अपनाया था। उसके उत्तराधिकारी स्वयं को क्षत्रिय समझ कर वर्मन कहने लगे थे। मौर्य शर्मण के चौथे वंशज ने अपनी कन्याओं के विवाह गुप्त राजाओं तथा अन्य राजाओं के साथ कर दिए।

उत्तर भारत में ब्राह्मण वर्ग का शासक होना नियम नहीं वरन् अपवाद ही रहा है। हिन्दुओं के बहुत से धर्मशास्त्रों में भी ब्राह्मणों के हाथ में शासन की बागडोर देना निषिद्ध है। स्कन्द पुराण में लिखा है कि दक्षिण भारत में ब्राह्मणों के शासक होने का कारण यह था कि ऋषि परशुराम ने बहुत से प्रदेशों को जीत कर ब्राह्मणों को दान में दे दिया था। सम्भव है कि विन्ध्याचल के दक्षिण में आने वाले आर्यों के अग्रणी ब्राह्मण रहे हों। इन ब्राह्मण नेताओं ने शायद यह सोचा हो कि जिन लोगों पर उनका प्रभाव अच्छी तरह पड़ चुका है उन्हीं पर शासन क्यों न किया जाए। पुराणों के नायक अगस्त्य ऋषि ने उत्तर और दक्षिण भारत के मध्यवर्ती पर्वतों को पार करके केवल द्रविड़ देशों में ही आर्य सभ्यता की पताका नहीं फहराई बल्कि दक्षिण-पूर्व एशिया के अनेक देशों पर भी गहरा प्रभाव डाला। प्राचीन तमिल साहित्य में उनका उल्लेख तमिल भाषा के सर्वप्रथम व्याकरणाचार्य, वैद्यक तथा अन्य शास्त्रों के जनक और सागरों के विजेता के रूप में किया गया है। अगस्त्य के आदेश से एक चोलवंशी राजा ने कावेरी नदी पर स्थित

'आर्य' और 'द्रविड़' शब्दों का प्रयोग यहां पर जातियों के सन्दर्भ में नहीं किया गया है। इन शब्दों को विद्वानों ने दो संस्कृतियों की, भाषा को छोड़ कर, भाव संज्ञा के रूप में लिया है।

अपनी राजधानी में इन्द्रोत्सव मनाना आरम्भ कर दिया था। कपिल नामक एक दूसरे ऋषि ने आर्य राजा बृहदत्त को पहाड़ी गीतों और संगीत के माध्यम से सम्भवतः तमिल भाषा की शिक्षा दी थी क्योंकि इन गीतों में हमें तमिल का सरलतम रूप मिलता है। यदि हम प्राचीन कथानकों और पौराणिक आख्यानों से ऐतिहासिकों द्वारा निकाले हुए निष्कर्षों पर विश्वास करें तो शायद हमें यह भी मानना पड़ेगा कि दक्षिण भारत में आर्य सभ्यता का प्रचार शान्तिपूर्ण तरीकों से हुआ था, और सुसंस्कृत होने के कारण वहां पर ब्राह्मण वर्ग का बड़ा सम्मान था।

आज भी हमें बहुत से ऐसे पुरालेख मिलते हैं जिनमें दक्षिण भारत के अनेक राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को बड़े भव्य उपहार देने के उल्लेख हैं। इन ब्राह्मणों को राजा अपने राज्यों में बसने का निमन्त्रण देकर बुलाया करते थे। इन राजाओं में विद्वान ब्राह्मणों को अपने राज्यों में वैदिक संस्कृति और शिक्षा का प्रचार करने के लिए निमन्त्रित करने में प्रतिस्पर्धा रहा करती थी।

जातियों और संस्कृतियों के मिश्रण के इस काल में समाज की क्या दशा थी, यह समझने में हमें इतिहास से बहुत कम सहायता मिलती है, परन्तु सौभाग्यवश इन विशृंखल कड़ियों को जोड़ने में जातिवृत्त वेत्ता से काफी सहायता मिलती है। तटवर्त्ती क्षेत्र होने के कारण मलाबार में सामाजिक व्यवस्था और तरीके बहुत दिनों तक अपने मूल रूप में बने रह सके। परन्तु अन्य प्रदेशों में वह लुप्त हो गए। मानवशास्त्रियों के स्वर्ग मलाबार में ब्राह्मणों का एक छोटा सा समुदाय नम्बूदिरी मिलता है। इनकी संख्या १३,००० से अधिक नहीं है और एक अंग्रेज लेखक ने उन्हें अन्य संस्कृतियों से अप्रभावित वैदिक बाह्मण-धर्म का प्रतीक बताया है। नम्बूदिरी ब्राह्मणों का वहां इतना अधिक सम्मान था कि वे कई पीढ़ियों तक मलाबार तट के (तिरुवांकुर को छोड़कर) राजा और सरदार रहे। आज भी कोचीन और जमोरिन वंशों के राजघरानों की स्त्रियां तथा मलाबार और कोचीन के सरदार परिवारों की स्त्रियां, जिन लोगों में मातृसत्तात्मक प्रथा है, केवल नम्बूदिरी पुरुषों से ही विवाह कर सकती हैं। अपना आदर-सम्मान बढ़ाने की ही भावना से अपेक्षया कम प्रसिद्ध नायर परिवारों ने अपने शासकों के अनुकरण पर अपनी लड़कियां ब्राह्मण परिवारों में व्याहनी आरम्भ कर दीं। मलाबार में आर्य संस्कृति के विकास का बहुत कुछ श्रेय नम्बूदिरी नेताओं को ही है। यथार्थ में जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं था जहां इन लोगों ने अपना महत्वपूर्ण योगदान न दिया हो। भारतीय दार्शनिकों के सिरमौर शंकराचार्य और कलन (कैलकुलस) के अन्वेषक भारतीय गणितज्ञ और कथाकली नृत्य को पूर्णता देने वाले नृत्याचार्य इन सब का सम्बन्ध इसी महान जाति से है। यद्यपि आन्ध्र के प्राचीन प्रसिद्ध लेखक आपस्तम्ब ने अपने गृहसूत्रों में ब्राह्मणों और अनार्यों के

बीच यौन सम्बन्ध का निषेध कर दण्ड का विधान किया है परन्तु मलावार में यह नियम अव्यवहार्य ही रहा। सम्भवतः इसका कारण यह था कि सांस्कृतिक आदान-प्रदान होने पर भी इस प्रकार की सामाजिक स्थिति जाति-विभाजन में कठोरता आने के पूर्व अन्य द्रविड़ क्षेत्रों में होने वाली इसी प्रकार की प्रक्रियाओं की अवशेष थी।

मलावार में किसी भी संस्कृति ने दूसरी संस्कृति पर वलात् प्रभुत्व नहीं जमाया था वल्कि यह एक मन्द संश्लेषण-प्रक्रिया थी जिसमें दोनों ओर से पर्याप्त आदान-प्रदान होता रहा। इस बीच वहुसंख्यक जाति की भाषा भीलों की भाषा की भांति नष्ट न होकर समृद्ध हुई और यद्यपि नम्बूदिरियों ने वहां के स्थानीय लोगों के मातृसत्तात्मक संगठन और चचेरे-ममेरे भाई-वहनों में पारस्परिक विवाह-प्रथा को स्वीकार नहीं किया, तथापि उन्होंने अपनी विवाह पद्धति को इतना अवश्य परिवर्तित कर लिया था जिससे समस्त ब्राह्मण परिवारों के कनिष्ठ सदस्य अब्राह्मण स्त्रियों से सन्तति पैदा कर सकें। ब्राह्मणों के यज्ञोपवीत, वैदिक संस्कार, एकान्तवास और ब्राह्मण स्त्रियों के एक-विवाह नियम के अतिरिक्त ब्राह्मणों और मलावार के निवासियों की प्रथाओं में बहुत कम भेद था।

द्रविड़-ब्राह्मणों और दक्षिण भारत की अन्य उच्चवर्गीय जातियों तथा महाराष्ट्र की सामाजिक प्रथाएं, जैसे चचेरे-ममेरे भाई-वहनों के विवाह, चाचा-भतीजी का विवाह, विवाह के अवसर पर 'ताली' नामक आभूषण का प्रयोग इत्यादि वहां के स्थानीय लोगों की प्रथाओं के साथ मेल-जोल का परिणाम सा प्रतीत होती हैं। पारस्परिक आदान-प्रदान सामाजिक क्षेत्र से भी अधिक हमें धार्मिक क्षेत्र में दिखाई पड़ता है।

भारत का भाषावार मानचित्र देखिए तो मालूम होगा कि भारतीय-आर्य-मराठी भाषा पश्चिम में कन्नड़ और तेलुगु भाषी क्षेत्रों के वीच में स्फुरित हुई है। दूसरी ओर पूर्व में उड़िया भाषा का प्रभाव उड़ीसा और उसके निकटवर्ती प्रदेशों की अनार्य द्रविड़ आदिमजातियों की भाषा कन्धी अथवा कुई पर पड़ा है। मध्य प्रदेश की आदिमजातियों में बोली जाने वाली द्रविड़ भाषा की गोण्डी बोलियां ही, जिसे किसी समय वहां लाखों आदमी वोलते थे, वहां अव भी वोली जाती हैं। ये वोलियां द्रविड़ भाषा का ही टूटा-फूटा रूप हैं। छोटा नागपुर, सम्वलपुर और रायगढ़ में बोली जाने वाली ओराव अथवा कुरुख बोली और गंगा के तट पर स्थित राजमहल की समीपवर्ती पहाड़ियों पर रहने वाली मलेर जातियों की माल्टो अथवा मलेर बोलियां, सुदूर उत्तर पूर्वी भागों में द्रविड़ भाषा की ही अवशेष हैं।

भाषा वेत्ताओं के अनुसार गोण्डी, कुरुख, माल्टो और कोलमी (पूर्वी वरार और वर्धा में कोलम आदिमजाति द्वारा बोली जाने वाली) बोलियों का मूल रूप

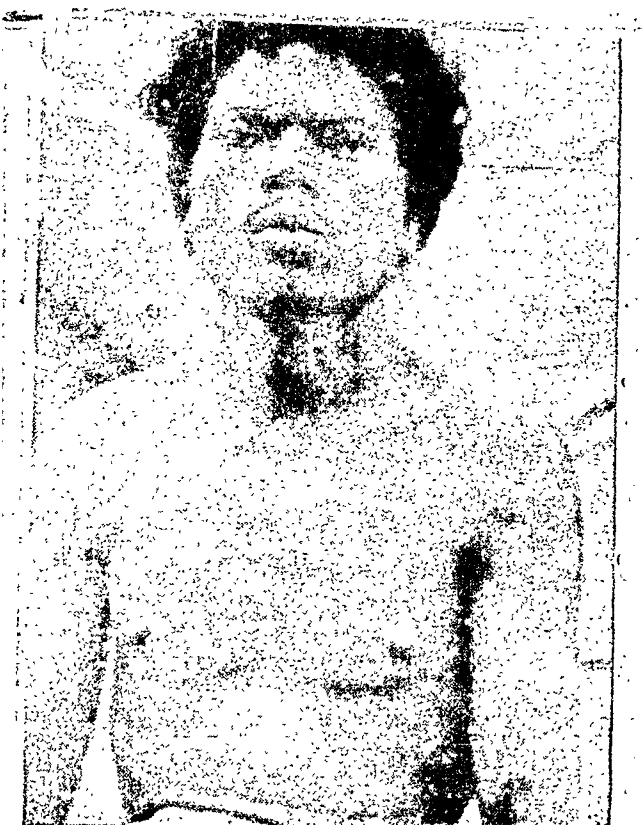
उनकी पड़ोसी भाषा तेलुगु की अपेक्षा कन्नड़ और तमिल से बहुत अधिक मिलता-जुलता है। इन बोलियों के पारस्परिक सम्बन्ध के महत्व का सही मूल्यांकन अभी कुछ विद्वान नहीं कर पाए हैं क्योंकि वे सोचते हैं कि मलेर तथा अन्य द्रविड़ भाषा-भाषी उत्तरी भागों में दक्षिण से बाद में आए हैं।

बिलोचिस्तान में ब्रहुई और बंगाल में माल्टो जैसी बोलियों के प्रचलन से स्पष्ट पता चलता है कि भूतकाल में द्रविड़ भाषाएं दूर-दूर तक फैली हुई थीं। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि द्रविड़ क्षेत्रों के पतन का उत्तरदायित्व भारतीय आर्यों पर ही है जो उन प्रदेशों में फैल गए थे। उत्तर में द्रविड़ बोलियां बोलने वाली आदिमजातियां, जिन पर उत्तरी भारत की संस्कृति और भाषाएं थोप दी गई थीं, एक परित्यक्त संस्कृति और भाषा की प्रतिनिधि हैं, जबकि इसके विपरीत तेलुगु, तमिल, कन्नड़, और मलयाली भाषी लोग आज जिस सांस्कृतिक वातावरण में रह रहे हैं वह उत्तरी प्रदेशों के निवासियों की और उनकी स्थानीय विशेषताओं के मिश्रण का परिणाम है।

दक्षिण द्रविड़ क्षेत्र की आदिमजातियों के लोग इस संश्लेषण से बहुत कम प्रभावित हुए हैं और वे इसके प्रभाव से बहुत दूर रहे। यहां पर आर्य और द्रविड़ लोगों का सम्मिश्रण हुआ, क्योंकि यहां जो संस्कृति फैली उसके एक छोर पर ब्राह्मण थे और दूसरे छोर पर आदिमजातियां। किन्तु इनमें कोई जैविक और सांस्कृतिक सम्मिश्रण नहीं हुआ।

यद्यपि अभी तक द्रविड़ भाषाभाषी जातियों का सांस्कृतिक दृष्टि से समुचित तुलनात्मक अध्ययन नहीं हुआ है फिर भी दूर-दूर तक फैले हुए इन लोगों में भाषाओं के अतिरिक्त अनेक संस्कृतिपरक समानताएं पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ मध्य-वर्ती भारत के गोण्ड लोगों में कुछ सांस्कृतिक विशेषताएं ऐसी हैं जो अब मलाबार के लोगों के लिए विगत इतिहास की घटनाएं बन गई हैं, और उनकी स्मृति भी क्षीण हो चली है। गोण्डों का कोटकल स्मारक किसी मृत व्यक्ति की स्मृति में बनाया जाता है। मलाबार के कुछ भागों में इसी नाम से कुछ प्रागैतिहासिक स्मारक पाए जाते हैं यद्यपि इन स्मारकों का महत्व और कोटकल शब्द का अर्थ आज विस्मृत हो गया है। यद्यपि परधान जाति के गोण्ड गायक, जिन्हें गोण्डी भाषा में पण कहते हैं और तमिलनाड के शास्त्रीय समय के पण एक ही हैं, फिर भी आज उनकी स्मृति केवल साहित्यिक ग्रन्थों में ही रह गई है। तिरुवांकुर की पहाड़ी आदिमजातियों का संगीत वाद्य कोकड़ा गोण्डों के यहां भी पाया जाता है। नीलगिरि की कोटा जाति में (जो टोडा लोगों की पड़ोसी जाति है), तिरुवांकुर की कणिक्कर तथा अन्य दक्षिणी आदिमजातियों में घोटुल अथवा उत्तर बस्तर के युवक-युवतियों के संयुक्त आवास जैसी संस्थाएं अब भी हैं, जो अवि-वाहित युवक-युवतियों के आवासों की अवशेष हैं। सम्भव है गोण्डी भाषा का

प्रधानमन्त्री एक आदिवासी बालक को माला पहना रहे हैं



तिरुवांकुर की पहाड़ियों में रहनेवाला एक उरली



भूत-प्रेत का शमन

'घोटुल' शब्द तमिल शब्द 'कोट्टिल' का ही रूपान्तर हो जिसका अर्थ होता है—धनुर्विद्यालय। मुरिया जाति में बालों में कंघी लगाने की 'मोतियारी' प्रथा पश्चिमि घाट की अनेक आदिमजातियों में प्रचलित है। उड़ीसा में लड़ने वाले अंग्रेज़ सैनिकों ने गोण्ड जाति की जिन सैनिक रीतियों का वर्णन किया है, वे बहुत-कुछ तमिल युद्ध-प्रणाली से मिलती-जुलती हैं। इनकी सबसे अधिक उल्लेखनीय प्रथा है गांव के सबसे बड़े संरक्षक वृक्ष को काट देना।

प्राचीन तमिल लोगों का मानव-भूगोल

प्राचीन तमिल लेखकों की बुद्धिमत्ता को देखकर हमें आधुनिक मानव-भूगोल-वेत्ताओं का स्मरण हो आता है। उन लोगों ने जीवों की जीवनयापन विधि के आधार पर अपने देश को पांच भागों में विभाजित किया था—(क) पहाड़ों का जंगली भाग (कुरिंजी), (ख) शुष्क और कम जनसंख्या वाली अर्ध-मरुभूमि (पलइ), (ग) जंगलों से लगा हुआ उपवन-प्रान्त (मुल्लइ), (घ) सुसिंचित उपजाऊ मैदान (मरुदाम) और (ङ) तटवर्ती भाग (नेडल)। इन सभी भागों के फल-फूल, वनस्पति, प्राणी, व्यवसाय, खान-पान, वाद्य यन्त्र और कला-कौशल आदि की विशेषताएं अलग-अलग थीं। इनके बहुत से प्राचीन आदिमजातीय नामों को आज पहचानना भी कठिन है। इनमें से कुरावर नामक जाति अब जंगलों में न रहकर खानाबदोश बन गई है। जंगली जातियों का मुख्य देवता कुमारन, इन्हीं जातियों का प्रिय देवता नहीं है बल्कि अन्य हिन्दुओं ने भी उसे अपना लिया है। उनकी सन्तान आज भी पहाड़ी धान, ज्वार, बाजरा आदि उपजाने, मधु और कन्दमूल आदि एकत्रित करने, जो इन पहाड़ी जातियों के जीवन यापन के साधन थे, की परम्परा को अपनाती आ रही है। इनके प्रमुख धार्मिक कृत्यों और भूत-प्रेतों के नृत्य आदि में अब केवल जंगली जातियां ही नहीं बल्कि मैदानों में रहने वाले लोग भी आस्था रखते हैं।

शुष्क मरुभूमि में रहने वाली जातियों में से अब केवल कल्लर और मरावर जातियां ही पाई जाती हैं। ये अब 'कुमारी देवी' की उपासना तो नहीं करतीं, परन्तु प्राचीन लुटेरों और लड़ाकू जातियों का सा स्वतन्त्र जीवन अभी पिछली कुछ दशाब्दी तक उसी प्रकार बिताती आ रही थीं।

कुरुम्ब चरवाहों की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था, जिसमें पशु पालन एवं स्थान-परिवर्ती खेती सम्मिलित हैं, उनके मुख्य देवता विष्णु की उपासना और उनका मुख्य मनोरंजन बैलों की दौड़ कुछ परिवर्तित रूप में आज भी उसी रूप में चला आ रहा है। नदियों से सिंचित घाटियों और तटवर्ती प्रदेशों के निवासियों, दोनों का ही जीवन अत्यन्त कठिन हो गया है और ये लोग अब पुराने तरीके से इन्द्र और वरुण की उपासना भी नहीं करते।

प्राचीन तमिल वैयाकरणों ने उपर्युक्त पांचों प्रदेशों की आदिमजातियों का तो उल्लेख किया है परन्तु विभिन्न जातियों के नाम विस्तार से देने का प्रयास नहीं किया। उन्होंने ब्राह्मणों, व्यापार करने वाली जातियों तथा अन्य कई बाह्य जातियों के नाम छोड़ दिए हैं। आदिमजातियों की आर्थिक व्यवस्था, कला और धर्म पर उनके निवास स्थानों का प्रभाव बतलाने का उनका प्रयास सराहनीय है।

आदिवासियों में सामाजिक परिवर्तनों के मुख्य कारण थे प्रौद्योगिक विकास तथा आर्य सभ्यता का प्रचार और कहीं-कहीं पर आर्यों की उन पर विजय। कुछ जातियां दोनों बातों से बचने के लिए ऐसे स्थानों में चली गईं जहां साधारणतया लोगों की पहुंच नहीं थी और इस प्रकार प्राचीन काल की स्मृति के रूप में वे आज तक बच सकी हैं। कुछ लोग ऐसे थे जो प्रौद्योगिक परिवर्तनों से भयभीत नहीं हुए और उन्होंने आर्यों के आक्रमणों का सामना किया। आर्यों ने उन्हें पराजित कर दुर्गम जंगलों में खदेड़ दिया जहां विपरीत परिस्थितियों के कारण उनका पतन हुआ और आज उनकी यह अवस्था है। जो लोग जंगलों में नहीं गए और जिनमें आक्रमणों से रक्षा करने का निश्चय और साहस नहीं था, उन्हें दास बना लिया गया और जातियों का वर्गीकरण करते समय उन्हें शूद्रों की संज्ञा दे दी गई। अन्य कुछ लोग आत्मसम्मान की रक्षा करने में विफल रहे और आगे चल कर अपराधजीवी बन गए। कभी-कभी क्षत्रिय वंश के छोटे सरदार और राजपूत नवीन स्थानों की खोज करते-करते आदिवासियों के प्रदेशों में पहुंचे और उन्होंने उन पर अपना राजनीतिक अधिकार जमा लिया। राजस्थान और उड़ीसा में बसने वाले भील तथा खोण्ड लोगों का सामन्ती समारोहों में भाग लेना इस बात का स्पष्ट संकेत है कि उन्हें किसी समय दास बना लिया गया था। जिन वर्गों का शासकों से घनिष्ठ सम्बन्ध था, वे प्रशासक जातियां बन गईं जैसे मलाबार में नायर, तमिलनाड में मुदलियार और आन्ध्र में रेड्डी। मैदानों में रहने वाली कुछ जातियों में आदिमजातियों के रक्त का मिश्रण पर्याप्त मात्रा में है।

नीचे कुछ आदिमजातियों का सविस्तार वर्णन दिया जा रहा है जिससे उनकी वर्तमान स्थिति के पूर्व के इतिहास का कुछ परिचय मिल सके।

खाद्य संग्रह करने वाली जातियां

पश्चिमी घाट की ऊंची चोटियों पर और पूर्व में नल्लइ-मल्लइ पहाड़ियों पर अनेक आदिमजातियां रहती हैं जिनकी आर्थिक परिस्थितियों में पिछले दो हज़ार वर्षों से कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है। इनमें से मलाबार ज़िले के नीलाम्बर जंगल में रहने वाली अरन्दान जाति सबसे अधिक प्राचीन है। लंका के वेड्डाहों की भांति अरन्दन जाति ने भी पहाड़ों पर रहना कुछ ही दिन पहले छोड़ा है। ये लोग खेती करना बिल्कुल नहीं जानते हैं। शिकार किए हुए पशु-पक्षी,

कीड़े-मकोड़े और कन्दमूल-फल आदि ही इनका मुख्य भोजन है। हम यह भी निश्चय के साथ नहीं कह सकते कि वे कभी धनुर्विद्या में भलीभांति दक्ष थे।

खाद्य पदार्थों का संग्रह करने वाली वायनाड की पणियर जैसी जातियों को मैदानों में खेती करने वाले लोगों ने दास बना लिया और उनका जीवन अत्यन्त कष्टमय तथा अनिश्चित बन गया। बड़े-बड़े वार्षिक मेलों में जहां वायनाड के कृषक सम्मिलित हुआ करते थे, ये लोग पणियर जाति के अपने दासों से मजदूरों का काम लेते थे। और यह प्रथा उस प्रदेश की अर्थ-व्यवस्था का निश्चित अंग बन गई थी।

कुछ जातियां भोजन का संग्रह करने के साथ-साथ भूमि की उर्वरता बढ़ाने के लिए फसल को काटकर ठूंठों में आग भी लगा देती हैं। तिरुवांकुर की मुथुवन और कणिक्कर जातियां तथा उत्तर की ईरुल, शोलगा, मलासेर, कांडर तथा अन्य जातियां भी ऐसे प्रगतिशील तरीके अपनाती हैं। इनकी संख्या बहुत कम है क्योंकि वहां की अर्थ-व्यवस्था इतनी अच्छी नहीं है कि वहां बहुत से लोग रह सकें। दूसरे, यहां जीवन की परिस्थितियां इतनी कठोर हैं कि शारीरिक और मानसिक, दोनों ही विकास सम्भव नहीं हैं।

खाद्य संग्रह करने वाली जातियों में नल्लइ-मल्लइ की चेंचू जाति के लोग संख्या में सबसे अधिक हैं। येनादि जाति जिसकी गणना पहले अपराधजीवी जातियों में होती थी और जो अब आन्ध्र प्रदेश की पिछड़ी हुई जाति समझी जाती है तथा पहाड़ों पर रहने वाले अन्य बहुत से आदिवासी अब चेंचू कहलाते हैं। पूर्व-ऐतिहासिक काल में हैदराबाद के नलगोण्डा और महबूबनगर तथा आन्ध्र के नेलोर, गुण्टूर, कृष्णा और चित्तूर जिलों के पहाड़ी प्रदेशों में चेंचू-येन्दी जाति का एकछत्र राज्य था।

दक्षिण भारत में जब खाद्य संग्रह करने के स्थान पर कृषि की प्रतिष्ठा हो गई और आदिवासी लोग गांवों में बसने लगे तो चेंचू लोगों ने इसका विरोध किया और वे इन प्रौद्योगिक विकास कार्यों में सम्मिलित न होकर अपने इलाकों में भी कुदाली और आखेट से ही चिपके रहे। ये विस्थापित चेंचू ही येनादि बन गए और दूर-दूर तक फैल गए। प्रगतिशील आन्ध्रवासियों के साथ इनका अनेक प्रकार का सांस्कृतिक और सामाजिक सम्बन्ध है।

कृष्णा नदी के तट पर हैदराबाद की ओर रहने वाले चेंचू शान्तिप्रिय और अविद्रोही प्रकृति के हैं तथा जंगली कन्दमूल, जानवर, मछली आदि खाकर रहते हैं और यदा-कदा थोड़ा-बहुत ज्वार, बाजरा भी पैदा कर लेते हैं। किन्तु आन्ध्र में रहने वाले जिन चेंचुओं के वन्य अधिकारों का १८८१ में लागू हुए वन सम्बन्धी नियमों द्वारा कठोरतापूर्वक अपहरण कर लिया गया था, वे बहुत बड़े अपराधी

बन गए और उन मार्गों से आने-जाने वाले लोगों, तीर्थयात्रियों और पड़ोस के गांव वालों के लिए वे एक खतरा बन गए। चेंचू लोग परम्परा से अपराधी नहीं हैं, बल्कि यह उन विपरीत आर्थिक परिवर्तनों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया थी जिनको दूसरी जातियों ने शान्तिपूर्वक सहन कर लिया था। इनके लिए अनेक प्रकार के दण्डों का विधान करने के बाद मद्रास सरकार ने इस बात की आवश्यकता अनुभव की कि उनकी इस दुखद परिस्थिति का निवारण किया जाए और इसके लिए उसने अनेक सुविधाएं दीं। चेंचुओं की स्थिति को सुधारने के अनेक प्रयत्नों के बाद भी अभी ये पिछड़े हुए हैं और इनकी दशा शोचनीय है। कृषि ही इनके लिए एक-मात्र आशा है पर इसके लिए अभी तक इन्होंने कोई विशेष अभिरुचि नहीं दिखाई है। इनको वन्य-बस्तियों में बसाने का कोई भी प्रयत्न आन्ध्र अथवा हैदराबाद में अभी तक कहीं भी सफल नहीं हो पाया है।

नीलगिरि की आदिमजातियां

बडगा, कोटा और टोडा आदि जातियां नीलगिरि की मुख्य आदिमजातियां हैं। ये या तो कन्नड़ बोलती हैं या उसी से निस्सृत अन्य बोलियां बोलती हैं। (इस क्षेत्र में भी पाई जाने वाली ईरुल और कुरुम्ब जातियां कोयम्बटूर, मलाबार और मैसूर में रहने वाली इन्हीं नाम की जातियों की उपशाखाएं हैं)। बडगा लोग नीलगिरि की पहाड़ियों पर टोडा लोगों के बाद आए थे और ये बहुत अच्छे किसान हैं। ये लोग आर्थिक रूप से इतने उन्नत हो गए हैं कि अब इन्हें कोई भी आदिवासी नहीं कहता। नीलगिरि की धरती और उसपर रहने वाली जातियों पर टोडा लोगों का परम्परागत अधिकार अब केवल कहानी मात्र बन कर रह गया है। इन लोगों की शव ले जाने की शानदार गाड़ियां बौद्धकालीन भारत की प्राचीन प्रथाओं का ही अवशेष चिन्ह प्रतीत होती हैं। इन प्रथाओं का वर्णन चीनी यात्रियों ने किया है। और हिन्दू बाली द्वीप में अब भी इनका प्रचार है।

नीलगिरि के परम्परागत स्वामी टोडा दर्शनीय, गर्वीले और रईसी शान-शौकत के लोग हैं। लम्बे केश, बड़ी दाढ़ी और कन्धे से पैरों तक लटकते हुए वस्त्र धारण करने वाले टोडा लोग अपने शिष्ट व्यवहार तथा शालीनता से यात्रियों को सदैव प्रभावित करते रहे हैं। नीलगिरि पहाड़ी के सुन्दर ढलानों पर बसे हुए एक टोडा गांव की ढोलाकार झोंपड़ियों के समीप खड़े होकर वहां के स्त्री, पुरुषों और भैंसों को देखकर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे मैं खानाबदोश चरवाहों के किसी प्राचीन लोक में पहुंच गया होऊं। अब टोडा लोगों की संख्या कम होती जा रही है—कुछ तो रोगों और वन्ध्यता के कारण और कुछ लड़कियों की बचपन में मृत्यु हो जाने के कारण। अब उनकी संख्या केवल ६०० है। यद्यपि इनकी संख्या बहुत बड़ी नहीं है, परन्तु फिर भी मानवशास्त्रियों का ध्यान सबसे अधिक केवल

भारत की ही नहीं बल्कि एशिया की जातियों में से इन्हीं की ओर गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि मानवशास्त्र की कोई भी पुस्तक ऐसी नहीं है जिसमें टोडाओं की सामाजिक प्रथाओं का उल्लेख न हो। इनकी सबसे अधिक उल्लेखनीय बातें हैं—इनकी पवित्र गोशालाएं, गोशालाओं के महन्त और पवित्र भैंसों से सम्बन्धित अनेक प्रकार के कर्मकाण्ड, टोडा जाति के यौन और विवाह सम्बन्धी नियम जैसे विवाहयोग्य लड़कियों का कौमार्य-भंग करने की प्रथा (जो अब छोड़ दी गई है), बहुपति-प्रथा, पति की सहमति से पत्नी का अन्य पुरुषों से प्रेम सम्बन्ध रखना, स्त्री-पुरुषों के बीच सम्बन्ध, पितृ संस्कार इत्यादि। साधारणतया टोडा शाकाहारी हैं किन्तु वैदिक ब्राह्मणों की भांति बलि देने के पश्चात् केवल संस्कार रूप में मांस का आहार करते हैं। अपने धार्मिक संस्कारों में ये देवताओं की स्तुति करते हैं। यूनान के राजकुमार महामहिम पीटर ने उनके देवी-देवताओं में ऐसे बहुत से नाम खोज निकाले हैं जो सुमेरियन देवी-देवताओं के नामों से मिलते-जुलते हैं।

नीलगिरि के प्रदेश में आक्रांताओं की लूटमार और शोषण के फलस्वरूप परिस्थितियों में जो परिवर्तन आया, टोडा लोग अपने को उसके अनुकूल परिवर्तित न कर सके। इनके अधिकारों का बलात् अपहरण कर लिया गया और इनकी आर्थिक तथा मानसिक परिस्थिति अत्यन्त दयनीय बन गई। सर्वेण्ट्स आफ इण्डिया सोसाइटी और मद्रास सरकार अब इस बात का प्रयत्न कर रही हैं कि टोडाओं के बच्चों को पढ़ा कर और डाक्टरी तथा आर्थिक सहायता देकर उन्हें प्रगति पथ पर अग्रसर किया जाए।

नीलगिरि के टोडाओं के पड़ोसी कोटा लोग यहां की आदिम जातियों में कुशलतम कारीगर हैं। ये लोग ग्वाले, लुहार, बढ़ई और कुम्हार सभी कुछ हैं और साथ ही अन्य आदिमजातियों के लिए गाने वालों का भी काम करते हैं। इन लोगों में बहु-पति प्रथा आवश्यक नहीं है, परन्तु भाई परस्पर एक दूसरे की पत्नी के साथ स्वतन्त्रापूर्वक पति का-सा व्यवहार कर सकते हैं। भाइयों में यौन सम्बन्धी ईर्ष्या बहुत कम होती है। इनकी प्रकृति की इस विशेषता का कारण यह है कि इन पर अनेक सांस्कृतिक और सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा है, विशेषकर भाइयों में बहुत से आर्थिक कार्यों में घनिष्ठ और निरन्तर सहयोग रहने की आवश्यकता। इसके कारण इनमें भाइयों के समानाधिकार की भावना भी विकसित हो गई है। कोटा लोगों की एक उक्ति है 'भाईहीन शक्तिहीन'।

वायनाड की आदिमजातियाँ

भौगोलिक दृष्टि से वायनाड का ताल्लुका नीलगिरि के पठार का ही एक भाग है। नीलगिरि और कुर्ग से मिले हुए वायनाड के पूर्वी अर्ध भाग में कन्नड़ बोलने

वाली और पश्चिम के अर्ध भाग में मलयालम बोलने वाली जातियां रहती हैं। जब यूरोपीय बागान-मालिक नीलगिरि-वायनाड के पठारों में पहुंचे तो उन्होंने देखा कि वह प्रदेश कुछ ज़मीन्दारों, विशेषरूप से मलयाली ज़मीन्दारों, के हाथ में था। वायनाड का सम्पूर्ण क्षेत्र, जब तक टीपू सुलतान ने इसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी को हस्तान्तरित नहीं किया था, कोट्टयम के राजा के राज्य का भाग था। वहां के वास्तविक कृषक कुरीच्चिया, मुल्ल, कुरुम्बर और चेट्टी आदि जातियों के लोग थे। अंग्रेजों ने अपना अधिकार जमाने के लिए जब युद्ध प्रारम्भ कर दिए तो वहां के आदिवासी किसानों की भूमि बागानमालिकों और उनके प्रतिनिधियों के हाथ में चली गई और क्षतिपूर्ति भी उन्हें या तो बिल्कुल ही नहीं या बहुत कम मिली। ऐसा भी देखने में आया कि जिन आदिवासियों के पास कई-कई एकड़ जंगल थे उनकी समस्त भूसम्पत्ति जब्त कर ली गई क्योंकि वे लगान अधिकारियों की तुच्छ मांगों को पूरा करने में असमर्थ थे। काली मिर्च, इलायची और कहवे के बड़े-बड़े बागान बनने के साथ-साथ वायनाड में मैदानों से आने वाले मजदूरों की संख्या भी बहुत बढ़ गई। साधारण व्यापारी, महाजन, और मज़दूरों की भर्ती करने वाले अनेक दलाल भी वहां आ गए और इस प्रकार मैदानी लोगों की वृद्धि के साथ ही आदिवासियों की विपत्ति का भी सूत्रपात हो गया।

इस क्षेत्र की सत्रह-अट्ठारह आदिमजातियों में से कुछ जातियों के लोग जैसे कुरीच्चिया, पणिया, करीमपलन, इत्यादि हज़ारों की संख्या में हैं और उरली कुरुम्बर, कुण्डुवटियन, काडर, उरीडवन, कनलाडी, पथियन, और कट्टुनयक्कन आदि जातियों के लोग बहुत कम संख्या में हैं। ये लोग अलग-अलग रहने तथा विपरीत परिस्थितियों के कारण एक सुसंगठित सामुदायिक जीवन की दिशा में प्रगति नहीं कर सके।

वायनाड ताल्लुके में यूरोपीयों द्वारा कहवे की खेती आरम्भ किए जाने के बाद वहां की जंगली जातियों और दास वर्ग ने, जो पहले वहां चावल की खेती किया करते थे, यह काम छोड़ दिया और अधिक लाभ की आकांक्षा से उन्होंने कहवे के बागानों में काम करना आरम्भ किया।

कुरीच्चिया तथा अन्य किसान जातियां वायनाड में पोडू अर्थात् पूनम की खेती करती हैं। वायनाड पहाड़ियों की घाटियां, विशेष रूप से इस ताल्लुके के पश्चिमी अर्धभाग की घाटियां, अब साफ कर दी गई हैं और वहां अब धान के हरे खेत लहरा रहे हैं। इस प्रदेश की बहुत कुछ सफाई तो प्राचीन काल में कुरीच्चिया लोगों ने ही कर दी थी। यह खेत बहुत उपजाऊ हैं और यहां की प्रति एकड़ फसल मलाबार जिले के बहुत से दूसरे भागों से अधिक है। वायनाड में आदमी का सबसे बड़ा शत्रु मलेरिया का रोग है।

नीचे इस प्रदेश की कुछ आदिमजातियों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है—

एडनाडन चेट्टी—एडनाडन चेट्टी मूल रूप से किसान जाति है जो वायनाड में कुर्ग से आई थी। इसका मुख्य व्यवसाय खेती करना ही है। ये लोग जो भाषा बोलते हैं वह कन्नड़ और मलयालम का मिश्रित रूप है। इनके उत्तराधिकार के नियम मक्कात्तयम (पितृसत्तात्मक संगठन) क़ानून के अनुसार बने हैं। पुर्नविवाह करने वाली विधवा का समाज में नीचा स्थान है। ये लोग शैव और वैष्णव, दोनों ही धर्मों के अनुयायी हैं।

वायनाडन चेट्टी—इस वर्ग के चेट्टी वायनाड के पूर्वी गांवों में निवास करते हैं। इन लोगों का व्यवसाय भी खेती ही है और उत्तराधिकार के लिए भी मरुम-चकथ्यम नियम का ही पालन होता है। इनकी भापा मलयालम है। कहा जाता है कि वायनाड के चेट्टियों के पूर्वज कोयम्बटूर के धरपुरम से आए थे और वेल्लाल-चेट्टी कहलाते थे। इनके यहां विवाह की दो पद्धतियां प्रचलित हैं। पहली प्रथा के अनुसार विवाह संस्कार के पश्चात् पत्नी को पति के साथ उसके घर रहने की अनुमति नहीं है, और दूसरी प्रथा 'मलकालयनम' है जिसके अनुसार पत्नी अपने पति के साथ रह सकती है। वायनाड के चेट्टी पूर्ण रूप से खेतिहर जाति के हैं जो नम ज़मीन पर और बिना सिंचाई किए खेती करते हैं। सब सामाजिक कार्यों को पूरा करने के लिए पांच परिवारों को समुदाय का मुखिया स्वीकार कर लिया गया है। ये लोग परिश्रमी, क़ानून से डरने वाले, शान्तिप्रिय और शिकार के प्रेमी हैं। प्रत्येक वर्ष ये चीते के शिकार का अनुष्ठान करते हैं जिसमें चीते को जाल में फंसाकर बाद में मार दिया जाता है। वायनाड के इन चेट्टियों में यद्यपि कुछ बड़े किसान भी हैं पर अधिकांश लोग निर्धन हैं और चालाक मोपला महाजनों के बुरी तरह से ऋणी हैं। ये लोग मद्यपान के भी अभ्यस्त हैं।

कुरीचिया लोग—अधिकांश रूप से कुरीचिया लोग वायनाड के ताल्लुके में ही रहते हैं परन्तु कुछ लोग कुरुम्ब्रानाड, कोट्टयम और कालीकट में भी रहते हैं। राज्य के १२,१३१ कुरुचियों में से १२,१२४ मलाबार जिले में ही रहते हैं।

कुरीचिया जाति सबसे पहली खेतिहर जाति है जो मलाबार के मैदानों से आकर वायनाड में बस गई थी। वायनाड की आदिमजातियों में इसका स्थान सर्वोच्च है। इन लोगों का विचार है कि पणिया आदि अन्य जातियों के उनके पास आने या स्पर्श से वे दूपित हो जाते ह। ये लोग धनुर्विद्या में अत्यन्त निपुण हैं और १९वीं शताब्दी के आरम्भ में पिशे राजा के विद्रोह में इन्होंने बहुत बड़ा भाग लिया था। ये लोग खेतिहर हैं जिनके पास अपनी भूमि रहा करती थी, परन्तु अब मैदानों से आकर वायनाड में अपना जाल बिछा कर महाजनों और छोटे-छोटे व्यापारियों

ने इनमें से बहुतों की जायदाद छीन ली है। ये लोग इतने ईमानदार और सरल हृदय हैं कि आसानी से शोषण के शिकार हो जाते हैं।

कुरीचिया लोग मातृसत्तात्मक संगठन के कट्टर अनुयायी हैं। परिवार का प्रमुख करणवान्, उसकी पत्नी और बच्चे, उसकी बहन के पुत्र और उनके परिवार, सभी, एक संयुक्त परिवार में रहते हैं और कभी-कभी तो ऐसे परिवार के सदस्यों की संख्या पचास तक पहुंच जाती है। एक संयुक्त परिवार के लोग एक साथ बने हुए पांच या छः बड़े-बड़े घरों में रहते हैं। परिवार का कोई लड़का जैसे ही काम करने के योग्य हो जाता है, उसे काम पर जाना पड़ता है और उसे अपने चाचा के घर रहना पड़ता है क्योंकि कानून के अनुसार वही उसका घर है। इसी प्रकार पति की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा पत्नी और बच्चे अपने पैतृक घर में रहने चले जाते हैं। पिता की सम्पत्ति में पुत्र और पुत्रियों का कोई अधिकार नहीं होता है।

कुरीचिया प्रदेश अनेक 'नाडों' में बंटा हुआ है और प्रत्येक नाड का एक मुखिया होता है। प्रत्येक नाड के मुखिया के नेतृत्व में प्रौढ़ लोगों की एक समिति होती है जो आपस के जातीय झगड़ों का निर्णय करती है। छूतछात और भोजन के सम्बन्ध में कुरीचिया लोग इतने पुरातनपन्थी हैं कि छोटे-छोटे नियमों का भी उल्लंघन होने पर उनके यहां कठोर दण्ड का विधान है। सामाजिक अपराध करने वाले स्त्री और पुरुषों का प्रायः जाति से बहिष्कार कर दिया जाता है। ऐसे व्यक्ति आजकल ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेते हैं। वायनाड म रहने वाले अधिकांश कुरीचिया ईसाई वही हैं जो सामाजिक अपराध करने के कारण जाति से बहिष्कृत कर दिए गए थे। कुरीचिया लोगों की रूढ़िवादिता के कारण कुछ बड़े विचित्र और असुविधाजनक परिणाम निकले हैं। इन लोगों को जेल का दण्ड मिल जाना तो जैसे इनकी सामाजिक मृत्यु ही है। कुरीचिया लोगों का यह नियम कि इनको कुरीचिया अथवा वायनाड के नायर द्वारा बनाए हुए भोजन के अतिरिक्त, अन्य किसी के भी हाथ का बनाया हुआ भोजन नहीं खाना चाहिए, जेल में जाकर टूट जाता है। जेल की सजा से यह लोग इतने भयभीत रहते हैं कि इस मुसीबत से बचने के लिए यह अपना सब-कुछ त्याग कर सकते हैं। उनकी रूढ़िवादिता प्रगति के मार्ग में, यहां तक कि उनके बच्चों की शिक्षा के मार्ग में भी बाधक हैं।

अधिकांश आदिमजातियों के समान कुरीचिया लोग भी मद्यपान के अत्यन्त प्रेमी हैं। मद्यनिषेध के पूर्व ही प्रशासनीय कठिनाइयों के कारण वायनाड ताल्लुके में ताड़ वृक्षों से ताड़ी निकालने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। इसलिए कुरीचिया लोगों ने विवश होकर बहुत मूल्यवान अर्क (शराब) पीना आरम्भ

कर दिया। यह शराब केवल लाइसेंस प्राप्त दुकानदारों से मिलती थी। विविध धार्मिक अनुष्ठानों के अवसर पर विशेष रूप से इनके वार्षिकोत्सव 'कुम्भम्' के अवसर पर कुरीचिया लोगों को विशेष लाइसेंस लेकर ही मैदानों से ताड़ी मिल सकती थी। इससे इनको पर्याप्त असुविधा होती थी और ये बहुत-से उत्सव मना नहीं पाते थे। और इसी कारण फसलों के बार-बार खराब होने, बच्चों और पशुओं में बीमारियां फैलने तथा अन्य बहुत-सी मुसीबतों को ये लोग अपने जातीय देवताओं के क्रोध का ही परिणाम समझते थे।

कुरीचिया लोग स्वतन्त्र कृषक हैं और आर्द्र तथा शुष्क (पूनम) दोनों ही प्रकार की खेती करते हैं। इनमें से बहुतों के पास अपने पशु हैं परन्तु उनकी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इन पशुओं में प्रायः बीमारियां फैल जाती हैं जिससे उनकी संख्या कम हो जाती है। कुरीचिया लोगों की अभिजात वर्ग की सी स्थिति है। ये लोग स्वभाव से डरपोक हैं और जहां तक सम्भव हो पाता है खुले बाजार में खरीदने और बेचने से बचते हैं। ये अपनी आवश्यकता की वस्तुएं बाजार से खरीदने के स्थान पर फेरी वालों से खरीदते हैं जो बहुत महंगे मूल्यों पर बेचते हैं। रुपए-पैसे के मामले में ये जल्दी ही घबरा जाते हैं और इतने ईमानदार होते हैं कि ऋणदाता इनसे जितना पैसा मांगते हैं, ये बिना किसी आनाकानी के उतना ही दे देते हैं। अपने संकोच और अनभिज्ञता के कारण बहुत-से ऐसे कुरीचिया लोग जो किसी समय बड़े जमीन्दार थे अब वायनाड के छोटे-छोटे नगरों के महाजनों के बुरी तरह ऋणी हैं। कुरीचिया लोगों में कुलीगीरी आदि करने के प्रति स्वाभाविक घृणा है और ये ऐसे काम तभी करते हैं जब बिलकुल विवश हो जाते हैं।

वायनाड में बहुत कम विद्यालय है और जो हैं भी, वे बहुत दूर-दूर हैं। इस कठिनाई तथा कुरीचिया लोगों के पुराने विचारों के कारण उनके बच्चे शिक्षा से वंचित रह जाते हैं। इसीलिए इन लोगों में पढ़े-लिखों की संख्या उंगलियों पर गिनी जा सकती है।

मुल्ल कुरुम्बर—मुल्ल कुरुम्बर और कुरीचिया लोगों में उनके सामान्य रहन-सहन, वेश-भूषा और रीति-रिवाजों में बहुत कम अन्तर है। इनकी भाषा मलयालम है। ये लोग शिकार के प्रेमी, सत्यवादी तथा स्वच्छता-प्रिय हैं और कुरीचिया लोगों की भांति मुख्यरूप से खेतिहर हैं। ये आर्द्र भूमि पर धान की खेती और पहाड़ के ढलानों पर 'पूनम' खेती करते हैं। साधारणतया जब तक ये बहुत ही गरीब न हों, कुलीगीरी नहीं करते। कुरीचिया लोगों के विपरीत मुल्ल कुरुम्बर उत्तराधिकार के विषय में मक्कट्टयम कानून का पालन करते हैं। वह शिकार करने में अत्यन्त कुशल हैं और तीर के अच्छे निशानेबाज हैं। अंग्रेजों के विरुद्ध कोट्टयम के राजा के विद्रोह काल में ये लोग राजा की ओर से बड़ी बहादुरी से लड़े थे।

कुरीचिया स्त्रियों की भांति इनकी स्त्रियां भी अपने वक्षस्थल को कपड़े के एक टुकड़े से ढकती हैं जिसके ऊपरी कोने वह कन्धे के ऊपर बांधती हैं। ये लोग भी अपने पुत्र-पुत्रियों, भतीजे-भतीजियों और अनेक भाइयों के साथ बड़े-बड़े संयुक्त परिवारों में रहते हैं।

माता से उत्तराधिकार में प्राप्त इनके चार कुलम होते हैं। उनका देवता 'करिअप्पन' कहलाता है। कुरीचिया और मुल्ल कुरुम्बर, दोनों यह समझते हैं कि वे एक-दूसरे के स्पर्श से दूषित हो जाएंगे और इसलिए ये एक-दूसरे का भोजन भी ग्रहण नहीं करते। प्रत्येक विवाहित व्यक्ति अलग एक झोंपड़ी में रहता है। कुरीचिया और नायरों की भांति मुल्ल कुरुम्बरों में तालीकेट्टु नामक एक संस्कार होता है परन्तु इसमें जो व्यक्ति ताली बांधता है वह लड़की का मामा होता है।

उरली कुरुम्बर—उरली कुरुम्बर वेत्तु कुरुम्बार भी कहाते हैं। ये लोग जो भाषा बोलते हैं वह कन्नड़ और मलयालम दोनों का मिश्रित रूप है। यह जाति वायनाड ताल्लुके की प्रधान कारीगर जाति है जो लुहारी, बढ़ईगीरी और टोकरियां बनाने के काम में बड़ी कुशल है। ये लोग चाक या अन्य किसी यन्त्र की सहायता के बिना मिट्टी को ठीक आकार देकर बर्तन तैयार करते हैं। हाथ के बनाए हुए बर्तन भट्टे में पकाए जाते हैं। ये बर्तन यद्यपि मोटे और भारी होते हैं परन्तु वायनाड के लोगों का विचार है कि उरली बर्तनों में भोजन अच्छा पकता है। बाज़ार में लोहे की बनी हुई वस्तुएं अपेक्षाकृत सस्ती बिकने के कारण उरली कुरुम्बरों के लिए लुहारी में कोई विशेष लाभ नहीं है। आजकल इनमें से कुछ को जंगल विभाग और स्थानीय कृषकों ने पेड़ काटने के काम में लगा लिया है। ये लोग भोजन के लिए रागी और चावल की खेती करते हैं अथवा बाज़ार से खरीदते हैं और कन्दमूल आदि एकत्रित करते हैं जो सौभाग्य से वायनाड में बहुतायत से पाए जाते हैं।

काडर—यह जाति वायनाड ताल्लुके के टोण्डर देशम्, टेरियोट, और मंगलस्सेरी भागों में पाई जाती है। ये लोग नायर जाति के लोग थे जो कुरीचिया लोगों की भांति कोट्टयम के राजा के साथ चले गए थे और जंगलों में बस जाने के कारण काडर कहलाए। ये शिव के शिकारी-स्वरूप 'मलकरी' की उपासना करते हैं। मलाबार में नम्बूदिरियों के घर के नाम के अनुकरण पर इनके घर इल्लम कहलाते हैं। प्राचीन काल में ये लोग जंगलों के स्वामी थे परन्तु अब इनमें से कुछ आर्द्र भूमि पर खेती करते हैं और कुछ कुलीगीरी करते हैं। अधिकांश लोग पहाड़ी भूमि पर खेती करके जीवनयापन करते हैं। ये लोग धनुर्विद्या में निपुण हैं और कुरीचिया लोगों की भांति कुशल निशानेबाज हैं।

'मलकरी' नामक देवता की उपासना के अतिरिक्त ये लोग एक दूसरे देवता 'करियाथन' को भी मानते हैं। ये मरूमक्कत्तयम नियम को मानते हैं और इन्होंने कुछ प्रथाएं नायरों की भी अपना ली हैं। पणिया और नायकन लोग इनसे सदैव कुछ दूरी पर रहते हैं। किसी तिय्यन का स्पर्श हो जाने पर काडर लोग स्नान करते हैं और नायर किसी काडर का स्पर्श हो जाने पर। स्पर्श के डर से ब्राह्मण और काडर, दोनों एक-दूसरे से सात फुट की दूरी अवश्य बनाए रहते हैं।

तचनाड मुप्पन—कहा जाता है कि तचनाड मुप्पन वायनाड में नीलाम्बर से आए थे जहां अब ये लोग बहुत कम संख्या में रह गए हैं। तचनाड मुप्पनों की झोंपड़ियों के एक समूह को पथी कहते हैं और एक पथी के दो मुखिया होते हैं। इनमें से प्रधान मुखिया मुथाली कहलाता है और दूसरा एलेरी। मुथाली देवता की पूजा करता है तथा एलेरी देवी की।

आन्ध्र के अभिकरण क्षेत्रों की आदिमजातियां

आन्ध्र के विशाखापटनम और पूर्वी गोदावरी ज़िलों के वनों से आच्छादित पर्वतीय भागों के ६,००० वर्ग मील से भी बड़े अनुसूचित अथवा आदिम जातीय क्षेत्र में इस राज्य की २० आदिमजातियां रहती हैं। ये जातियां द्रविड़ अथवा यण्डारी बोलियां बोलती हैं। ये जातियां दूर दक्षिण भारत की आदिमजातियों की अपेक्षा अधिक दर्शनीय, सुसंगठित, नृत्य और संगीत की अधिक प्रेमी और आर्थिक तथा प्रौद्योगिक दृष्टि से अधिक उन्नत हैं। अधिकांश जातियों में 'घोटुल' से मिलते-जुलते युवक-संगठन हैं। अंग्रेजों के राज्यकाल में इन क्षेत्रों का इतिहास बहुत से आदिमजातीय झगड़ों और आक्रमणों के कारण नष्ट हो गया है। ये आक्रमण इन्हें शक्तिहीन कर इनके अधिकारों को हस्तगत करने के लिए किए गए थे। असहयोग के आन्दोलन के साथ ही सीताराम राजू के नेतृत्व में होने वाला अन्तिम आदिम जातीय विद्रोह अधिकारियों के अत्याचारों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया ही थी। सीताराम राजू का एक सहयोगी लोक सभा में आदिमजातियों का प्रतिनिधि है। इस क्षेत्र का शासन प्रवन्ध एक प्रकार से प्रान्तीय गवर्नर और उसके ऐजेण्टों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाता था। शासकों के सद्भाव के बावजूद एजेन्सी ट्रैक्ट्स इण्टरेस्ट एण्ड लैण्ड ट्रांसफर ऐक्ट, १९१७ और मद्रास डैट बोण्डेज एबोलिशन रेग्यूलेशन, १९४०, आदि विशेप नियम भी इन लोगों का अधिक हित न कर सके। अभी पिछले दिनों इन भागों में भी मद्यनिषेध कर दिया गया था परन्तु ये आदिमजातियां इसे अपने हित के लिए किया गया सुधार समझती हैं, इसमें हमें सन्देह है। सरकार ने यह अनुभव कर लिया है कि अधूरे सुधारों से कोई लाभ नहीं होगा और इसलिए उनके सर्वांगीण विकास के लिए जैसे मलेरिया-नियन्त्रण, भूमि पर आबादी बसाने और अच्छे संचार-साधनों की सुविधा

आदि बातों से सम्बन्धित बहुमुखी विकास योजनाएं तैयार की गई हैं। ऐसे क्षेत्रों की कुछ आदिमजातियों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

सावरा—यह आदिम जाति विशाखापटनम अभिकरण क्षेत्र में ही नहीं बल्कि उसके आस-पास के क्षेत्रों में भी पाई जाती है। सावरा प्रदेश अपनी ऊंची-ऊंची पहाड़ियों, कलकल करती हुई पहाड़ी जलधाराओं और दूर-दूर तक विस्तृत एवं गहरी हरी-भरी घाटियों के कारण अत्यन्त दर्शनीय है। धान के सीढ़ीनुमा ऊंचे-ऊंचे खेत इसके सौन्दर्य में चार चांद लगा देते हैं। सावरा लोग सिंचाई का प्रवन्ध करने में बहुत कुशल हैं। खेत सींचने के लिए वे छोटी-छोटी पहाड़ी नदियों पर बड़ी चतुराई से बांध बनाते हैं। गांव की योजना बनाने में उनकी अपनी विशेष सूझबूझ है क्योंकि उनके घर समानान्तर पंक्तियों में बने हुए होते हैं जिससे उनकी व्यवस्था का आभास होता है। सावरा लोगों को ऐत्तरेय ब्राह्मण, रामायण और महाभारत में उल्लिखित सावरा जाति की सन्तति माना जाता है। कहा जाता है कि तेलुगु-भाषियों ने उन्हें उनके वर्तमान स्थानों में खदेड़ दिया था। कोर्णी ताम्र-पत्र के अनुसार कलिंग गंग राजवंश के चलाने वाले कामार्णव ने चिकाकोल क्षेत्र के शासक साबरादित्य को दन्तरुव में पराजित कर मार डाला था। साबरादित्य, जैसा उसके नाम से प्रतीत होता है, सावरा जाति का रहा होगा। सावरा लोगों का दूर-दूर तक फैलना, वेदों और महाकाव्यों में उनके उल्लेखों और उनसे सम्बन्धित अनेक युद्धों से पता चलता है कि प्राचीन भारत में उनका स्थान बहुत महत्वपूर्ण था।

गडबा—भाषा-विज्ञान की दृष्टि से सावरा लोगों की भांति गडबा लोग भी मुण्डारी शाखा के हैं। ये लोग जेपुर, मलकनगिरि, कोरापुट और पत्तंगी ताल्लुकों में रहते हैं। सावरा जाति की भांति ये लोग भी कृषक हैं परन्तु शिकार की वस्तुएं और मछली भी उनके भोजन के अंग हैं। गडबा स्त्रियां अपने बनाए हुए छोटे-छोटे कर्घों पर पेड़ों की छाल से वस्त्र बनाने में बहुत कुशल हैं। इन वस्त्रों को ये विभिन्न वनस्पतियों से तैयार किए हुए रंगों से रंगती हैं। वास्तव में कोई भी गडबा कन्या विवाह के योग्य तब तक नहीं समझी जाती जब तक वह कर्घे के काम में पूर्ण निपुण नहीं हो जाती। स्वीडन के एक मानवविज्ञानशास्त्री ने जो गडबा लोगों के आर्थिक जीवन का अध्ययन कर रहा था, मुझे बताया कि यदि कोई सूत-प्रविधिज्ञ गडबा लोगों द्वारा उपयोग में लाई जाने वाली विभिन्न वनस्पतियों के रेशों के बारे में व्यावसायिक दृष्टि से छानबीन करे तो निश्चय ही उसका परिश्रम सार्थक होगा। कर्णाभूषण के रूप में गडबा स्त्रियों के कानों में पड़ी हुई तार की बड़ी-बड़ी बालियों ने भी हमारा काफी ध्यान आकर्षित किया है।

प्रभुत्व की भावना गडबा लोगों में बहुत कम विकसित हुई है। गांव के मुखिया को बहुत कम अधिकार प्राप्त हैं। समाज में किसी भी व्यक्ति का प्रभाव

उसकी अपनी योग्यता और आर्थिक साधनों पर निर्भर है। ग्राम परिषद की बैठक वृक्ष के नीचे पत्थर के चबूतरे (सोडोर) पर होती है। पत्थर के इन चबूतरों का सम्बन्ध मृतात्माओं से होता है अतः यहां की कार्यवाही पवित्र वातावरण में होती है और इसीलिए उसके निर्णयों को मानना पड़ता है।

खोण्ड—यद्यपि सरकारी विवरणों के अनुसार इस आदिम जाति का नाम खोण्ड है परन्तु इसका सही नाम कुई है। ये लोग उड़ीसा और विशाखापटनम, दोनों ही प्रदेशों में रहते हैं और द्रविड़-भाषा भाषियों में इनकी संख्या सबसे अधिक है। ये लोग कृषि और युद्ध से सम्बधित अनुष्ठानों के अवसर पर सदा बाहरी लोगों की (मेरियाह) बलि दिया करते थे और इस कारण बदनाम हो गए थे। अंग्रेज़ों को इनकी इस प्रथा को सेना की सहायता से समाप्त करना पड़ा।

कोया—कोया आदिम जाति गोदावरी नदी की घाटी की गोण्ड आदिम जातियों की सबसे दक्षिणी शाखा है। इन लोगों की एक विशेषता यह है कि ये भैंसे के सींग लगा कर नृत्य करते हैं और यदा-कदा गो-मांस भी खाते हैं। 'कोया' शब्द का अर्थ होता है पर्वतवासी। यह आदिम जाति व्यवसाय के अनुसार कई उपजातियों में विभाजित हैं जैसे लुहार, बढ़ई, पीतल का काम करने वाले और टोकरियां बनाने वाले। इनका जीवन रोहिला लोगों, ज़मीन्दारों और अब महाजनों तथा मैदानों से आने वाले अन्य शोषकों द्वारा दिए गए कष्टों और दुखों की एक लम्बी कहानी है। कोया क्षेत्र के हैदराबाद की ओर समीपवर्ती पिछले कुछ वर्षों में समाज सेवकों ने इन लोगों को फिर से बसाने के लिए काफी काम किया है, परन्तु अभी इनकी आर्थिक स्थिति में विशेष अन्तर नहीं आया है। वर्ष के कुछ महीनों में यहां खाद्य का इतना अभाव रहता है कि बच्चों सहित सारा परिवार कन्दमूल, तथा इमली और ताड़ के रस पर जीवित रहता है।

कोण्ड रेड्डी—तेलुगुभाषी यह आदिम जाति कोया जाति के साथ पहाड़ों पर रहती है। इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि किसी समय यह जाति एक शासक जाति थी, परन्तु कुसमय ने इन्हें पर्वतों और घाटियों में ला पटका। यद्यपि आज इनका सारा वभव नष्ट हो चुका है परन्तु फिर भी उस की कुछ विशेषताएं अब भी पाई जाती हैं। इनके रहन-सहन का ढंग कुछ बातों को छोड़कर जैसे गो-मांस खाना, विधवा विवाह तथा हिन्दू धर्म की कुछ अन्य रीतियां, प्रायः वही हैं जो कोया लोगों का है। ये लोग कोया लोगों की अपेक्षा अधिक आत्मनिर्भर और अच्छे कृषक हैं। ज़मीन्दारों के लिए बेगार में काम करना यद्यपि आदिमजातियों के हित में कानून द्वारा निषिद्ध करार दिया गया है, परन्तु यह प्रथा यहां अब तक भी चली आ रही है।

अपराधजीवी आदिमजातियां

जीवन की कठोर परिस्थितियों ने बहुत सी आदिमजातियों को पेशेवर अपराधी बना दिया। अपराधजीवी आदिमजाति अधिनियम (जो हाल ही में रद्द कर दिया गया है) की सहायता से भी पुलिस तथाकथित अपराधजीवी जातियों के सुधार के लिए उपयुक्त वातावरण न बना सकी। मद्रास और आन्ध्र की भूतपूर्व अपराधजीवी आदिमजातियों में कोरव, येरुकुल, कल्लर और लम्बाडी जातियां उल्लेखनीय हैं। प्राचीन काल में कोरव लोग समृद्ध थे और बोझा ढोने वाले पशुओं की सहायता से व्यापार करते थे। विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के व्यापार के अनुसार उनकी विभिन्न उपजातियां पैदा हो गई थीं। व्यवसाय में लगे होने के कारण उन्हें अनेक स्थानों और अनेक प्रकार के व्यक्तियों का यथेष्ट ज्ञान हो गया था। तत्कालीन शासक कोरवों को गुप्तचरों के रूप में रखकर उनके विलक्षण ज्ञान का उपयोग करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि टीपू सुल्तान ने उन्हें गुप्त समाचार लाने और शत्रु के शिविरों में जाकर छोटे-मोटे उत्पात मचाने के लिए नियुक्त किया हुआ था। जब कोरवों से उनके परपरागत व्यवसाय छिन गए तो उन्होंने संगठित रूप से चोरी करना आरम्भ कर दिया। अपराधजीवी आदिमजाति अधिनियम के अनुसार सूचना देकर हज़ारों की संख्या में उन्हें उनके जन्मस्थानों से हटा कर अपराधजीवी जातियों की बस्तियों में भेज दिया गया। इन बस्तियों की स्थिति बन्दी-शिविरों जैसी थी। अधिकांश बस्तियां ईसाई धर्म प्रचारकों के प्रबन्ध में थीं। लम्बाडी लोग उत्तर भारत की आक्रमण करने वाली सेनाओं के सहयोगी थे। इन लोगों का अपने घरों से सम्पर्क छूट गया और ये लोग दक्षिण भारत में खानाबदोश व्यापारी तथा चरवाहे बन गए। ये लोग दर्शनीय होते हैं, मुख्य रूप से राजस्थानी वस्त्र और आभूषणों से लदी हुई इनकी स्त्रियां।

दक्षिणी तमिल जिलों, मदुरइ, रामनाड, तंजावूर और तिरुचिरापल्लि के रहने वाले कल्लर लोग जो किसी समय लड़ाकू जाति के थे, अपने को पाण्ड्य तथा चोल राजाओं के वंशज बताते हैं। पुदुकोट्टइ का राजा कल्लर जाति का ही है। आखेट करने के कल्लरों के अस्त्र 'बूमेरंग' का अब भी छोटे-मोटे शिकारों में और धार्मिक अनुष्ठानों के समय प्रयोग किया जाता है। कानों में बड़े-बड़े छेद वाली और गले में घोड़े के बालों का बना हुआ आभूषण (विवाहित स्त्रियों का चिन्ह) पहने हुए इनकी स्त्रियां भूतकाल में पुरुषों की भांति ही बलशाली समझी जाती थीं। अपराधजीवी आदिम जाति अधिनियम कल्लरों पर सर्वप्रथम १९१४ में लागू किया गया। मद्रास पुलिस ने व्यापक रूप से इनके सुधार का कार्य किया। सहकारी ऋण समितियों, कल्लर पंचायतों और प्रारम्भिक शिक्षा वाले विशेष स्कूलों ने इस जाति का कोई विशेष सुधार नहीं किया, परन्तु अपराधजीवी आदिमजाति

अधिनियम रद्द कर दिए जाने के बाद इनमें से पढ़े-लिखे लोगों ने जाति का नेतृत्व सम्हाल लिया है। इन लोगों के पुनर्वास कार्य का और कल्लरों की अनुर्वर भूमि के विकास कार्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

आन्ध्र, कुर्ग, हैदराबाद, मद्रास, मैसूर और तिरुवांकुर-कोचीन में ६० से भी अधिक आदिमजातियां हैं, जिनकी जनसंख्या लगभग २० लाख से भी अधिक होगी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व राज्य सरकारों ने इन जातियों की भलाई के लिए जो कुछ भी किया उस पर केन्द्रीय सरकार का कोई नियन्त्रण नहीं था। क्योंकि अधिकांश आदिमजातियां वन-विभाग द्वारा नियन्त्रित क्षेत्रों में रहती थीं अतः इस विभाग के अधिकारी वर्ग का एक अतिरिक्त कर्तव्य यह भी था कि इन आदिम-जातियों के हितों की रक्षा करे, विशेषरूप से उनके पारिश्रमिक के सम्बन्ध में। सर्वप्रथम हैदराबाद सरकार ने मानवशास्त्रज्ञों से परामर्श कर एक व्यापक आदिमजातीय नीति निर्धारित की, और इन लोगों की रक्षा का भार समाज सेवा के एक विशेष विभाग को सौंप दिया। इस विभाग ने आदिवासियों के हित के बहुत से अच्छे काम किए—१९४३ में चेंचू सुरक्षा दल की स्थापना, आदिवासियों तथा पिछड़े वर्गों के लिए एक मानवशास्त्रज्ञ की परामर्शदाता के रूप में नियुक्ति, समय-समय पर आदिवासियों की सभाओं का आयोजन, गोण्ड तथा अन्य आदिम जातियों के लिए शिक्षा योजनाओं का निर्माण, जिससे शिक्षकों को गोण्डी तथा अन्य आदिमजातीय भाषाओं में अध्यापन के लिए प्रशिक्षण दिया जा सके, गोण्डी भाषा में कुछ पाठ्य पुस्तकें तैयार करना, आदिवासियों को भूमि दिलवाना, ग्रामीण और अनाज बैंकों की स्थापना इत्यादि। हैदराबाद में समाज सेवा के लिए भूमि पूर्णतया तैयार हो चुकी है और अब दस वर्ष से भी अधिक समय से वहां का प्रशासनिक संगठन आदिवासियों के हितार्थ कार्य कर रहा है। अतः हैदराबाद के आदिवासी तीव्र गति से प्रगति के पथ पर अग्रसर हैं।

आदिवासी क्षेत्रों में कोई भी कार्य करने में अनेक कठिनाइयां आती हैं। इसलिए दूसरे राज्यों को हैदराबाद राज्य में हुई उन्नति के समान ही उन्नति करने में कुछ समय लगेगा। सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी ने नीलगिरि, मलाबार, और तिरुवांकुर-कोचीन में आदिवासियों के कल्याण के लिए अनेक केन्द्र खोले हैं। मद्रास सरकार के चिकित्सा विभाग ने टोडा लोगों में फैले हुए यौन रोगों को दूर कर इस मरणासन्न जाति को फिर से जीवन दान दिया है। अब कोई भी यह नहीं कह सकता कि हम अपने आदिवासी भाइयों के प्रति उदासीन हैं।

छोटे अन्दमान द्वीप के निवासी ओंग

ई० सी० बूची

अन्दमान द्वीपसमूह के २०४ छोटे-बड़े द्वीपों में से छोटा अन्दमान द्वीप सुदूर दक्षिण में स्थित है। यह द्वीप-रत्न मुख्य द्वीपसमूह से ३२ मील चौड़े एक उथले और संकीर्ण जलमार्ग से पृथक् हो जाता है। इसका विस्तार उत्तर से दक्षिण तक २६ मील से अधिक और पूर्व से पश्चिम तक १६ मील से अधिक है। इस द्वीप में घने ऊष्णकटिबन्धीय जंगल हैं और सागर के तटवर्ती प्रदेश विशाल प्रवाल-चट्टानों से सुशोभित हैं।

अन्दमानवासी ईसा की दूसरी शताब्दी से जबकि क्लाडियस टोलमी ने सर्वप्रथम अन्दमान द्वीपसमूह का उल्लेख किया था, इतने बदनाम रहे कि किसी भी अन्वेषक का इतना साहस नहीं हुआ कि वह वहां जाकर अधिक छान-बीन कर सकता। यहां के मूल निवासी अत्यन्त बर्बर तथा असभ्य थे जो नवागन्तुकों को देखते ही उन पर आक्रमण कर देते थे चाहे वे नवागन्तुक नौका टूट जाने के कारण बहकर किनारे आ लगे हों या स्वयं वहां आये हों। दुर्भाग्य का मारा जो भी व्यक्ति उनके हाथों में पड़ जाता था, उसे वे मारकर खा जाते थे।

निस्सन्देह यह अरोप कुछ अंशों में सत्य भी था। किसी भी नवागन्तुक के प्रति अन्दमानवासियों का व्यवहार अत्यन्त बर्बरतापूर्ण होता था। सम्भव है उनका यह व्यवहार मलय के दास-व्यापारियों के व्यवहार की एक प्रतिक्रिया हो। ये व्यापारी इन द्वीपों पर समय-समय पर चढ़ाई करते रहते थे।

उनके मनुष्यभक्षी होने का कभी भी कोई प्रमाण नहीं मिला। यदि अन्दमान-वासी कभी मनुष्यभक्षी रहे भी होंगे तो भी इस द्वीपसमूह पर अंग्रेजों का अधिकार होने के पूर्व ही उन्होंने यह आदत छोड़ दी होगी। श्री ए० आर० ब्राउन का विचार है कि यह विश्वास सम्भवतः इसलिए पनपा होगा कि उत्तरी भागों के अन्दमान-वासी प्रायः शत्रुओं के शव के टुकड़े-टुकड़े कर अग्नि में जला देते थे।

भारत से पूर्वी देशों में जाने वाले व्यापारियों के लिए अन्दमान द्वीपसमूह सदैव से एक खतरा रहा है। बंगाल की खाड़ी में प्रायः भयानक तूफान आया करते हैं जिनसे बचने के लिए जब जहाजों को अन्दमान द्वीपसमूह के तटों का आश्रय लेना पड़ता था अथवा जब व्यापारी भोजन और जल की खोज में वहां जाते थे तो उन्हें मूल निवासियों के आक्रमण का भय बना रहता था। किनारे पर ही जहाज

अबोर योद्धा







काडर महिला

नष्ट हो जाने का अर्थ होता था उन व्यापारियों की मृत्यु। यह भय दूर करने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इस द्वीपसमूह पर लोगों को बसाने तथा एक सुरक्षित बन्दरगाह बनाने के प्रयास किए। १८५८ में पोर्ट ब्लेयर में दण्डित अपराधियों की बस्ती बसाने का उनका प्रयास सफल रहा।

अन्दमान द्वीपसमूह के निवासियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, यद्यपि भाषा और संस्कृति की दृष्टि से उनमें बहुत से वर्ग हैं : (क) दक्षिण अन्दमान के आन्तरिक भागों के जरावा लोगों को छोड़कर अन्दमान द्वीपसमूह के बड़े-बड़े द्वीपों के सभी आदिवासी और (ख) ओंग-जरावा-सेण्टिनली वर्ग।

ओंग लोग छोटे अन्दमान द्वीप में, जरावा लोग मुख्य रूप से दक्षिण अन्दमान के आन्तरिक भाग में और सेण्टिनली लोग उत्तर सेण्टिनल द्वीप में रहते हैं। सेण्टिनली लोग सम्भवतः जरावा जाति के वे लोग हैं जो अपने मूल स्थान को छोड़कर उत्तर सेण्टिनल द्वीप में जा बसे थे। कहा जाता है कि ओंग और जरावा जाति के लोग एक-दूसरे को भली भांति समझते हैं किन्तु इनमें से कोई भी बड़े अन्दमान द्वीप की किसी भी जाति से परिचित नहीं।

पोर्ट ब्लेयर में लोगों के बस जाने के पश्चात् बड़े अन्दमान द्वीप की जो आदिमजातियां शान्त हो गयी थीं, वे अब प्रायः लुप्त हो चली हैं। दूसरी आदिमजातियां जो अत्यन्त बर्बर और असभ्य रहीं, अब काफी फलफूल रही हैं।

आज भी जरावा लोगों से मुठभेड़ होने का अर्थ है, उनसे लड़ना। पिछले कुछ वर्षों से ओंग लोगों के सामने आना उतना खतरनाक नहीं रह गया है। जब भारतीय नौसैनिक जहाज हमें उतारने के लिए छोटे अन्दमान द्वीप के पास रुका तो सबके मस्तिष्क में एक ही विचार चक्कर काट रहा था कि यहां के निवासी हमारा स्वागत किस प्रकार करेंगे—मित्रभाव से अथवा शत्रुभाव से। दूरबीन की सहायता से मैंने द्वीप का किनारा खोजा। सहसा ओंग लोगों का—काले और प्रायः नग्न, छोटे कद के व्यक्तियों का एक दल दिखाई दिया जो स्पष्ट ही हमारी नौका को देखकर किनारे के साथ-साथ दौड़ा आ रहा था। उनके साथ छोटे-छोटे बच्चों का होना हमारे लिए एक शुभ चिन्ह था। उनके हृदय में हमारे प्रति यदि कोई भी दुर्भावना होती तो वे बच्चों को साथ न लाकर हम पर आक्रमण करने के लिए स्वयं कहीं आसपास छिप जाते। दूसरे, किसी के हाथ में कोई हथियार भी नहीं था। यह स्पष्ट था कि वे हमारा मैत्रीभाव से स्वागत करना चाहते थे। मैंने यह प्रबन्ध किया कि हमारी पहली नौका में ओंग लोगों को हमारे सद्भाव का विश्वास दिलाने के लिए उपहार भेजे जाएं। वे हमारी नौका को जहाज छोड़कर आते हुए देखते ही अपनी छोटी-छोटी किश्तियां लेकर जल में उतर आए और

उत्ताल तरंगों को पार कर हम लोगों से मिलने आगे बढ़े। नाचते, गाते और हंसते हुए उन्होंने अपनी किश्तियां मोड़ लीं और किनारे तक हमारे साथ आए।

तट पर पहुंचकर जैसे ही मैं रेत पर कूदा, प्रसन्न जनसमुदाय ने मुझको घेर लिया। उन्होंने लाल कपड़े की छोटी-छोटी पट्टियां और तम्बाकू की पत्तियां उत्साहपूर्वक स्वीकार कीं और हमने उन्हें संकेतों के द्वारा इस बात के लिए राजी कर लिया कि वे नावों से हमारा सामान उतारने में सहायता करें और जंगल का कुछ भाग हमारे लिए साफ करके वहां हमारा शिविर गाड़ दें।

छोटे लोगों के साथ रहकर यह स्वाभाविक ही है कि व्यक्ति अपने-आप को बड़ा समझे, और ओंग जैसे छोटे लोगों के बीच में तो वह उनसे बच्चों के समान ही व्यवहार करेगा। उनके प्रति इससे बड़ा और कोई अन्याय नहीं हो सकता। इन बौने व्यक्तियों में आत्मसम्मान की बड़ी बलवती भावना रहती है और उसकी उपेक्षा करने का परिणाम बड़ा भयंकर हो सकता है।

जैसा हम पहले ही कह चुके हैं ओंग लोग बहुत छोटे कद के होते हैं। पुरुषों की साधारण लम्बाई १४८ सेण्टीमीटर और स्त्रियों की लगभग १३९ सेण्टीमीटर होती है। व किसी भी दृष्टि स असाधारण नहीं होते। उनकी शरीर की बनावट समुचित अनुपात में होती है और मांसपेशियां सुगठित होती हैं। सिर कुछ गोल, चेहरा छोटा और चौड़ा, ठोड़ी कुछ उठी हुई तथा नाक चपटी और चौड़ी होती है। ओंठ साधारणतः मोटे और कभी-कभी बाहर को निकले हुए होते हैं। धूल और लाल मिट्टी से ढकी होने पर उनकी त्वचा गहरे भूरे रंग की दिखाई देती है, परन्तु धोने पर वह कुछ नीलापन लिए हुए काली होती है। बालों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। उनके बाल बड़े विचित्र होते हैं। सिर और शरीर पर उगे हुए छोटे-छोटे बाल ऊपर की ओर गूंथ दिए जाते हैं और उनके बीच की त्वचा स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इसलिए उनका सिर ऐसा लगता है जैसे उस पर किसी ने काली मिर्च के दाने छिड़क दिए हों। चेहरे और शरीर पर बाल बहुत कम होते हैं। आंख की पुतली गहरे भूरे रंग की होती है, यहां तक कि आंख का सफेद भाग भी कुछ भूरापन लिए हुए रहता है।

स्त्रियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके नितम्ब खूब पुष्ट होते हैं। उनक नितम्ब पीछे को इतने अधिक निकले रहते हैं कि उन पर बच्चे सरलता से खड़े हो सकते हैं।

पुरुष वस्त्र के स्थान पर साधारणतया केवल एक सादे रस्से की पेटी पहनते हैं। यह रस्सा और उसका रेशा वृक्ष की छाल से बना हुआ होता है। पेटी का उपयोग विशेषरूप से आदिमकालीन चाकू रखने के लिए किया जाता है। अब

ये लोग दो-तीन इंच चौड़ी कपड़े की लंगोटी पहनते हैं जो सामने और पीछे दोनों ओर पेटी से बंधी रहती है। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि उन्हें यह कपड़ा कहां से मिलता है।

स्त्रियां एक-दो इंच चौड़ी केतकी वृक्ष की पत्तियों अथवा बहुत से धागों से बनी हुई मेखला पहनती हैं। सामने की ओर मेखला से ताड़ के ताजे पत्तों से बना हुआ रेशों का गुच्छा लटकता रहता है। यह सूत्र भूरे रंग का होता है और जब इसे जीवन्ती वृक्ष की उबली हुई फलियों के गहरे पीले छिलके के साथ बंट लिया जाता है तो उसमें स्वर्णिम छटा का आभास होता है। स्त्रियां और कभी-कभी पुरुष भी गले में सीपियों का हार और हाथों में कंगन पहनते हैं।

ओंग लोग अपने चेहरे को और कभी-कभी पूरे शरीर को भी विभिन्न प्रकार की सफेद तथा लाल मिट्टी से अलंकृत करते हैं। वे इस मिट्टी में लाल गेरू, पानी, राल और कछुवे की चर्बी मिलाते हैं। अलंकरण का यह काम स्त्रियां करती हैं। पहले वे परिवार के अन्य लोगों को अलंकृत करती हैं और तत्पश्चात् लगनपूर्वक परस्पर एक-दूसरे को। वे मिट्टी का यह घोल अत्यन्त सावधानी से सुन्दरतापूर्ण ढंग से उंगलियों से शरीर पर लगाती हैं। विशेष रूप से चेहरे पर मिट्टी से कोई आकल्पन बनाती हैं। वे पहले चेहरे पर रंगीन मिट्टी पोत देती हैं फिर उंगलियों के पोरों से मिट्टी खरोंचती हैं जिससे कुछ रेखाएं बन जाती हैं और उनकी काली त्वचा दिखाई पड़ने लगती है। ये आकल्पन स्त्री के कला-चातुर्य के अनुरूप विभिन्न प्रकार के होते हैं। सौंदर्यवर्धन के साथ-साथ इन आकल्पनों का चिकित्सा सम्बन्धी महत्व भी है। रोग की अवस्था में रोगी का रोग दूर करने के लिए भी उसके शरीर पर ऐसे आकल्पन बनाए जाते हैं।

छोटे अन्दमान द्वीप के निवासी शिकार के सुनिश्चित स्थानों के अनुसार विभिन्न दलों अथवा स्थानीय वर्गों में बंटे हुए हैं। इस प्रकार का प्रत्येक स्थानीय दल जिसमें लगभग दस परिवार सहित एक मुखिया होता है, अपने स्थायी स्थान में पूरे दल के लिए एक बहुत बड़ी गोलाकार झोंपड़ी बनाकर उस पर ताड़ के पत्तों की चटाई का छप्पर छा देता है। झोंपड़ी के मध्य में सामूहिक रूप से भोजन बनाने और नाचने के लिए एक विशिष्ट स्थान होता है। झोंपड़ी में भीतर की ओर किनारे-किनारे प्रत्येक परिवार के निजी उपयोग के लिए निश्चित स्थान होता है। बेंत के बने हुए एक ऊंचे चबूतरे पर पूरा परिवार सोता है और उसी के समीप परिवार का भोजन तैयार होता है।

ओंग लोग जब शिकार करने अथवा मधु एकत्र करने घर के बाहर जाते हैं तो वे अपने लिए अस्थायी झोंपड़े छा लेते हैं। हमारा वहां पहुंचना एक बड़ी घटना

थी और वहां के स्थानीय लोग हमारे शिविर की किसी भी घटना से अपरिचित नहीं रहना चाहते थे। उनकी सामूहिक झोंपड़ी हमारे शिविर से यद्यपि केवल पांच मिनट की दूरी पर ही थी, परन्तु फिर भी उन्होंने हमारे पास ही अपने अस्थायी झोंपड़े तत्काल बनाने आरम्भ कर दिए। सबसे पहले उन्होंने बेंत का एक तीन फुट चौड़ा, चार फुट लम्बा और एक फुट ऊंचा चबूतरा बनाया और उस पर पत्तों का बना हुआ एक छप्पर लगा दिया। इन सब छप्परों का मुंह बीच के खुले भाग की ओर था और ये सब मिलकर एक गांव सा प्रतीत होते थे।

कुछ ही समय बाद जब अन्य दलों ने हमारे वहां पहुंचने का समाचार सुना तो वे भी तुरन्त वहां आ गए। ओंगे लोगों का एक-दूसरे को अभिनन्दन करते हुए देखना हमें अत्यन्त आकर्षक लगा। उनमें प्रथा यह है कि अमुक स्थान के रहने वाले लोग जमीन पर बैठते हैं और आने वाले अतिथि उनकी गोद में। तदनन्तर वे काफी देर तक कभी-कभी १५-२० मिनट तक शान्तभाव से एक दूसरे का आलिंगन करते हैं। वे जितने ही अधिक दिनों के बाद मिलते हैं उतनी ही अधिक देर तक आलिंगन करते हैं।

ओंग लोगों का दैनिक जीवन सादा है। सूर्योदय होते ही उनके शिविर में हलचल आरम्भ हो जाती है। प्रातःकाल का भोजन वे लोग पिछले दिन के बचे हुए बासी भोजन से बनाते हैं। उसके बाद शिकारी दल, कभी-कभी स्त्रियों सहित, बाहर निकल जाते हैं। शिविर में माताएं बच्चों की देखरेख करती हैं, टोकरियां और जाल बनाती हैं और अत्यन्त सावधानी से आग को जलाए रखती हैं। छोटे अन्दमान द्वीप के निवासी आग जलाना नहीं जानते परन्तु वे अधिक देर तक जलने वाली लकड़ी चुन लेने में अत्यन्त कुशल हैं। यात्रा करते समय अथवा शिकार पर जाते समय ये लोग जलती रहने वाली लकड़ी बड़ी सावधानी से ले जाते हैं।

ओंग लोग अपना जीवन निर्वाह सम्पूर्णतया प्राकृतिक उपादानों, समुद्र और जंगल से प्राप्त वस्तुओं पर करते हैं। समुद्र से उन्हें कछुआ, मछली, घोंघे, पर्पटी, चूर्णप्रावार और जंगल से जंगली सुअर, मधु और कन्द-मूल आदि मिलते हैं।

शिकारियों के पास धनुष और बाण होते हैं। इनका धनुष सीधी और चिकनी लकड़ी से बनाया जाता है और उस पर कोई सजावट नहीं होती। धनुष की डोरी बनाने के लिए ये लोग धनुष की लम्बाई के अनुसार वट की छाल की एक या अधिक पट्टियों को वट लेते हैं। ये लोग दो प्रकार के बाणों का उपयोग करते हैं। मछली मारने के बाण की नोक पर पैने लोहे का तार लगा रहता है और सुअर मारने के बाण पर भाले के आकार का लोहे का टुकड़ा लगा हुआ होता है। वे

अतीत काल में किनारे पर टूट-फूट गए जहाजों में से लोहा ले आते हैं और पत्थर से उसे मनोनुकूल रूप दे देते हैं।

ये लोग मधु बाल्टियों में संगृहीत करते हैं। ये बाल्टियां या तो नरम लकड़ी के लट्ठों को छेनी से खोखला कर के बनाई जाती हैं अथवा बर्मा से छोटे अन्दमान द्वीप के तट पर बह कर आए हुए बड़े बांसों से बनाई जाती हैं। संगृहीत कन्दमूल और व्यक्तिगत वस्तुएं वे बड़ी सफाई से बुनी हुई बेंत की टोकरियों में ले जाते हैं। बाल्टियां और टोकरियां बेंत की रस्सी से बांध कर पीठ पर लादकर ले जाई जाती हैं और उनका ऊपरी सिरा सिर के ऊपर से होकर आता है।

मध्यान्ह में शिविर में बड़ी चहल-पहल हो जाती है। शिकारी अपने शिकार के साथ लौटते हैं, स्त्रियां आग जलाने के लिए लकड़ियां और पानी लाती हैं और दिन के मुख्य भोजन—सन्ध्याकालीन भोजन—की तैयारियां आरम्भ हो जाती हैं। द्वीप के निकट से जाते हुए जहाज़ों में से फेंके गए विभिन्न प्रकार के टीन के डिब्बों को साफ करके ये लोग भोजन बनाने के काम में ले आते हैं। वर्तमान ओंग लोग बर्तन बनाने की कला से अनभिज्ञ हैं परन्तु बर्तनों के जो टुकड़े इन द्वीपों पर यत्र-तत्र प्राप्त हुए हैं उनसे ज्ञात होता है कि इनके पूर्वज इस कला से अवश्य परिचित थे। अलग भोजन खाने के लिए छोटे डिब्बों तथा शंखों को ही तश्तरियों के रूप में काम में लाया जाता है। सीपियों से जल-पात्र का काम लिया जाता है।

सन्ध्या के भोजन के पश्चात् जब रात हो जाती है तो ओंग लोग कभी-कभी अपना समय नाच-गाकर बिताते हैं। स्त्रियां और पुरुष आमने-सामने पंक्तिबद्ध होकर खड़े हो जाते हैं और उस स्थान पर राल की आग जलाते हैं। शरीर को थोड़ा सामने की ओर झुका कर, घुटनों को फैलाकर, नितम्बों को आगे और ऊपर की ओर हिलाते हुए एड़ियों को उठा कर ये नर्तक अपने शरीर को सीधा कर फिर पीछे को झुकाते हैं। इसके बाद शरीर को ढीला छोड़ कर वे फिर आगे झुकते हैं और साथ ही नितम्बों को पीछे और नीचे की ओर ले जाते हुए पूर्व मुद्रा में पहुंच जाते हैं। इस प्रकार नितम्बों की गति वृत्ताकार रूप में होती है। दोनों तरफ लटके हुए हाथ नितम्बों की गति के अनुरूप ही संचालित होते हैं। उनका यह नृत्य उस समय तक चलता रहता है जब तक उनका गाना समाप्त नहीं हो जाता।

दूसरे प्रकार के नृत्य में नर्तक एक पैर पर कूदते हैं और दूसरे पैर की एड़ियों को नितम्बों पर मारकर वैसी ही संगीतमयी ध्वनि पैदा करते हैं जैसी तालियां बजाकर होती हैं।

सभी अन्दमानवासियों की भांति ओंग लोग भी एक ऐसी प्राचीन जाति के वंशज समझे जाते हैं, जो किसी समय सम्पूर्ण दक्षिण एशिया में फैली हुई थी। द्वीपों में अलग-अलग पड़े रहने और नवागन्तुकों के प्रति वैर भाव रखने के कारण ये लोग वाह्य प्रभावों से प्रायः अछूते ही बच गए, परन्तु मुख्य भूमि पर रहने वाले उनके सम्बन्धी आक्रमणकारियों के अत्याचारों के कारण या तो मर गए अथवा उन्हीं में मिल गए। केवल मलय प्रायद्वीप में रहने वाले इनके सजातीय सेमांग लोग ही कुछ अंश तक शुद्ध रूप में बचे हुए हैं।

कुछ वैज्ञानिकों का तो यहां तक कहना है कि अफ़्रीका से सुदूर पूर्व तक के सभी बौने व्यक्ति किसी एक ही प्राचीन जाति के वंशज हैं। उनकी यह बात विचारणीय है क्योंकि इन सभी लोगों में कुछ शारीरिक समानताएं हैं जैसे उनका कद, रंग और बाल। शरीर रचना सम्बन्धी समानताएं होने पर ही इनका पारस्परिक सम्बन्ध सिद्ध किया जा सकता है। रक्त की और अन्य विशेषताओं के बारे में हमने जो छान-बीन की है उससे पता चलता है कि ओंग लोग एशिया के ही हैं और अफ़्रीकी बौनों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

निस्सन्देह हमें मानना पड़ेगा कि उपरोक्त शारीरिक रचना सम्बन्धी विशेषताएं पैतृक भी होती हैं यद्यपि यह आज तक ज्ञात नहीं हो सका कि ये किस प्रकार आगे चलती हैं? इस प्रकार इन दोनों वर्गों के बौने लोगों के बीच सम्बन्ध दिखाने के लिए हमें पक्षीय और विपक्षीय दोनों प्रकार की रक्त सम्बन्धी विशेषताएं मिलती हैं। अब प्रश्न यह है कि "किसी निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए किन बातों को आधार बनाया जाए?" इसका उत्तर बिलकुल सरल है—"वे बातें जिनके कारण सम्बन्धित व्यक्ति को किसी भी वातावरण में सुविधा या असुविधा न होती हो।"

जहां तक हमें मालूम है, अपने को वाह्य परिस्थितियों के अनुकूल बनाने में रक्त-वर्गों का कोई महत्व नहीं होता। अधिकांश शारीरिक रचना सम्बन्धी विशेषताओं के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं होती। काला रंग व्यक्ति को ऊष्ण देशों में सूर्य के प्रखर ताप के प्रभाव से बचाता है। कद छोटा होने के कारण बौने व्यक्ति घने जंगलों की छोटी-छोटी झाड़ियों में घुस सकते हैं परन्तु सामान्य कद के व्यक्ति को अत्यन्त सावधानी से चलना पड़ता है और लम्बे-लम्बे बाल कांटेदार झाड़ियों में उलझकर परेशानी पैदा कर सकते हैं।

ऊष्ण देशों में सूर्य के ताप को सहने तथा घने जंगलों में रहने में गहरे काले रंग और छोटे बालों वाला बौना व्यक्ति ही समर्थ है। शिकार करने और परिवार का समुचित पालन करने में उसे कहीं अधिक सुविधा रहेगी और इसलिए वह अपनी

वंशवृद्धि भी सरलतापूर्वक कर सकता है। इन विशेष परिस्थितियों में स प्रकार के व्यक्ति का वंश पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़ता जाएगा।

इस प्रकार अफ्रीकी त ा अन्दमानी बौने व्यक्तियों की शारीरिक रचना सम्बन्धी समानता का कारण यह कहा जा सकता है कि समान परिस्थितियों में मूलतः दो विभिन्न जातियों का साथ-साथ विकास हुआ है—दो भिन्न-भिन्न जातियों का साथ-साथ विकास जैसा कि इनके रक्त की विभिन्नता से भली भांति स्पष्ट है।

यदि यह सिद्धांत सही है और इसके समर्थन में काफी कहा जा सकता है तो बौने व्यक्तियों को हम प्राचीन और आदिम नहीं मान सकते। शरीर रचना की दृष्टि से यह रूप विकास के प्रारम्भिक चरण का नहीं, चरमोत्कर्ष का द्योतक है। इसके अतिरिक्त उनका स्वरूप योजनारहित विकास का परिणाम न होकर जीवन की उन परिस्थितियों से अनुकूलन का परिणाम है जिनमें वे रहते हैं।

विकास के इतने ऊंचे स्तर पर पहुंच जाना बहुत खतरनाक है। परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढाल लेने की प्रक्रिया केवल शारीरिक ही नहीं है बल्कि अनुकूलन पूर्णता को भी प्राप्त हुआ है। सभ्यता के साथ सम्पर्क में आने से ये परिस्थितियां ऐसी नई परिस्थितियों में बदल जाती हैं जिनके लिए ये लोग न तो तैयार हैं और न उनमें इनका सामना करने की ही क्षमता है। उनकी जीवनचर्या में परिवर्तन करना, उनमें ऐसे रोगों का आजाना तथा उनके लिए ऐसी सुख-सुविधाओं की व्यवस्था करना जिनसे वे अभी तक अपरिचित रहे हैं, उनके लिए अत्यन्त हानिकर सिद्ध हो सकता है और जिससे अल्प समय में ही उनका अन्त हो सकता है। यह जानकर सन्तोष होता है कि ऐसे प्रयत्न किए जा रहे हैं जिनसे ओंग लोगों को ऐसे दुर्भाग्य का सामना न करना पड़े। आज नई सभ्यता के संसर्ग में आने से बचा नहीं जा सकता। अधिकारीगण इस बात की चेष्टा कर रहे हैं कि इन विनाशक प्रभावों को दूर रखकर मानवजाति की एक विशेष शाखा के अवशिष्ट इस अनुपम अंग को सुरक्षित रखा जाए और उनके जीवन की स्वाभाविक परिस्थितियों को नष्ट न किया जाए।

आदिवासियों की भाषाएं

सुनीति कुमार चाटुर्ज्या

देश की साधारण जनता के अतिरिक्त आदिवासी भी समाज के एक अंग हैं, यह विचार हमारे मस्तिष्क में कभी आया ही नहीं। विदेशों में आंग्ल-सैक्सन जाति के लोगों ने अपने उपनिवेश बनाकर उन देशों के मूल निवासियों के प्रति जो रवैया अपनाया, उसी से आदिवासी की धारणा का विकास हुआ। इस धारणा ने जो यद्यपि मूलतः यूरोपीय लोगों ने अपनाई थी, भारत में सामान्यतया स्वीकृत एक सामाजिक भावना को नयी दिशा दी जिसे मोटे रूप से शिक्षित भारतीयों ने स्वीकार किया। इस प्रकार हम लोगों में पिछड़े लोगों को, विशेषकर जो आत्मनिर्भर होकर सुदूर निर्जन प्रदेशों में रहते हैं, सांस्कृतिक और समुदाय की दृष्टि से अपने से अलग समझने की प्रवृत्ति पैदा हुई। इन लोगों के प्रति हमारे परम्परागत दृष्टिकोण पर जाति-भेद का बड़ा गहरा प्रभाव था। आदिवासियों का वर्ग अथवा जाति अलग ही मानी जाती थी और समाज में उनका स्वीकृत अस्तित्व भी था, परन्तु वे सदा हिन्दू समाज के अन्तर्गत नहीं रहे।

साधारणतः भारतवासी मिश्रित जाति के हैं और बाहर से आने वाली बहुत सी जातियों जैसे आर्य, द्रविड़, आस्ट्रिक अथवा निषाद, मंगोल और किरात आदि के पारस्परिक सम्पर्क का परिणाम हैं। इन जातियों के सम्मिश्रण और संस्कृति के विकास से एक संश्लिष्ट समाज का प्रादुर्भाव हुआ जिसने ब्राह्मण की प्रधानता को अंगीकार किया और अभिव्यक्ति के लिए संस्कृत भाषा को अपनाया। इस प्रकार प्रत्येक 'आदिवासी' हिन्दू समाज का ही सम्भाव्य अंग माना जाता था, चाहे वह पहले से ही हिन्दू समाज का अंग न रहा हो।

आदिवासियों को सहानुभूतिपूर्वक सुसंस्कृत बनाना हिन्दू समाज की स्वीकृत नीति थी। इस नीति में पृथकता की कोई भी भावना नहीं थी। इन जातियों के लिए 'आदिमजाति' शब्द का उपयोग उपयुक्त समझा जाता था, परन्तु आज के भारत में उन्हें सामान्यतः आदिवासी अथवा 'आरम्भ से रहने वाले' कहा जाता है। भारतवर्ष के कुछ लेखकों ने भारत के आदिम निवासियों के लिए इण्डोनीशिया में 'देशवासी' अथवा 'पृथ्वी पुत्र' के लिए प्रचलित संस्कृत शब्द 'भूमिपुत्र' प्रयुक्त करने की चेष्टा की, परन्तु उसे सामान्य रूप से स्वीकार नहीं किया गया।

हमारे आदिवासी भारत की जनसंख्या का एक छोटा-सा भाग हैं। इनका अपना एक अलग वर्ग है क्योंकि इनका बौद्धिक स्तर अन्य परिष्कृत जातियों की अपेक्षा बहुत नीचा है, इनमें सामयिक परिस्थितियों के अनुकूल बदलने की क्षमता बहुत कम है और शिक्षा तथा संस्कृति का अभाव है। इसलिए सरकार का कर्त्तव्य है कि वह इनकी ओर विशेष ध्यान दे। इन्हें समझने के लिए हमारा दृष्टिकोण उदार एवं वैज्ञानिक अर्थात् मानव-विज्ञान पर आधारित होना चाहिए। इसलिए इनको और इनकी संस्कृति को समझने के लिए इनकी भाषाओं का अध्ययन करना महत्वपूर्ण हो जाता है।

आदिवासियों के हिन्दू और मुसलमान पड़ोसी इनकी भाषाएं पहले इसलिए सीखते थे कि वस्तुओं के विनिमय अथवा इनको कृषि मजदूरों के रूप में रखने के लिए उनका व्यावसायिक क्षेत्र में इनके साथ सम्पर्क बना रहे। साथ ही आदि-वासियों ने भी अपने सभ्य पड़ोसियों की भाषाएं सीखना लाभप्रद पाया। साधारण-तया किसी भी शिक्षित भारतवासी ने आदिवासियों की भाषा को व्यवस्थित ढंग से नहीं सीखा।

भारतवर्ष में आदिवासियों की भाषाओं का अध्ययन विभिन्न सम्प्रदायों के ईसाई मिशनरियों ने किया था क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य अपनी धार्मिक पुस्तकों को आदिवासियों की भाषा में अनूदित करना था जिससे वे उनके धर्म को स्वीकार करके उसका पालन कर सकें। कुछ मिशनरियों का दृष्टिकोण अधिक उदार और वैज्ञानिक था। उनमें इन लोगों के विषय में जानने की जिज्ञासा थी।

इस प्रकार भारत में इनकी भाषाओं का अध्ययन प्रायः गत शताब्दी के मध्यकाल से आरम्भ हुआ और तब से इस दिशा में पर्याप्त प्रगति भी हुई है। भारत की प्रमुखतम आदिम भाषा सन्थाली के सम्बन्ध में साहित्य और भाषा की दृष्टि से स्कैण्डीनेविया के मिशनरियों ने जो विद्वत्तापूर्ण कार्य किया, वह अत्यन्त प्रशंस-नीय है।

१९३१ की जनगणना के अनुसार भारत के आदिवासियों अथवा आदिम-जातियों की संख्या २ करोड़ से अधिक थी। भारतीय भाषाएं चार बड़े भाषा-परिवारों के अन्तर्गत आती हैं: (१) भारत-यूरोपीय अथवा आर्य भाषाएं जिसके अन्तर्गत उत्तरी भारत और दक्षिण की हिन्दी, बंगला, पंजाबी, गुजराती, मराठी और उड़िया भाषाएं आती हैं; (२) मध्य और दक्षिणी भारत की द्रविड़ भाषाएं—इस परिवार में चार समृद्ध साहित्यिक भाषाएं आती हैं जैसे तेलुगु, कन्नड़ तमिल और मलयालम। इसी परिवार में दक्षिण भारत और मध्य तथा पूर्वी भारत के आदिवासियों की भाषाएं भी आती हैं जो कम महत्वपूर्ण हैं। उत्तर

भारत की जो जातियां आर्य भाषाएं बोलती हैं उन्हें आदिवासियों में सम्मिलित नहीं माना जाता परन्तु पिछड़ी हुई होने के कारण उनकी गणना आदिवासियों में ही की जाती है ।

अन्य दो परिवारों की भारतीय भाषाएं दो-तीन अपवादों को छोड़कर कभी-भी ठीक से विकसित नहीं हुईं । ये भाषाएं अधिक पिछड़े हुए आदिवासी वर्गों में प्रचलित हैं । इन दोनों में से एक है—(३) आस्ट्रिक भाषा-परिवार की आस्ट्रेशियाई शाखा की बोलियां जैसे मध्यवर्ती और पूर्वी भारत की कोल और मुण्डा बोलियां, असम की खासी, निकोबार द्वीपसमूह की निकोबारी और बर्मा, स्याम, इण्डोचीन (वियतनाम) में प्रचलित बहुत-सी भाषाएं तथा बोलियां । आस्ट्रिक भाषा-परिवार की आस्ट्रोनेशियन नामक एक अन्य शाखा भी है जिसमें इण्डोनेशियाई वर्ग की भाषाएं आती हैं जैसे इण्डोनीशिया की राष्ट्र भाषा 'मलय' और माइक्रोनीशिया, मैलेनीशिया और पोलिनीशिया की भाषाएं । (४) चौथा है चीनी तिब्बती भाषा परिवार—इसमें मंगोल जाति की विभिन्न शाखाओं के लोगों की आदिमजातीय भाषाएं आती हैं जो हिमालय के सम्पूर्ण दक्षिणी ढलानों, उत्तरी पंजाब से भूटान तक, उत्तरी तथा पूर्वी बंगाल और असम में सर्वत्र पाये जाते हैं ।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, आस्ट्रिक और मंगोल भाषा-भाषी जातियां तथा द्रविड़ भाषाएं बोलने वाली कुछ अन्य आदिम जातियों को ही, भारत में आदिवासी के नाम से पुकारा जाता है । अब हम उनकी भाषाओं पर संक्षेप में विचार करेंगे ।

द्रविड़ आदिवासी भाषाएं

उल्लिखित चार विकसित द्रविड़ भाषाओं के अतिरिक्त दो भाषाएं और भी हैं जो काफी सभ्य लोगों में प्रचलित हैं, यद्यपि ये भाषाएं अधिक विकसित नहीं हैं । ये भाषाएं बोलने वाली जातियां अध्ययन और साहित्य रचना के लिए अपने पास की सुविकसित द्रविड़ भाषा कन्नड़ का ही प्रयोग करना पसन्द करती हैं । ये दोनों जातियां, जिनकी गणना आदिवासियों में नहीं की जाती, तुलू (१,५२,०००) और कोडगु अथवा कुर्गवासी (४५,०००) हैं ।

गोण्ड लोग जिनकी संख्या १८,६५,००० के लगभग है, द्रविड़ भाषा बोलने वाले आदिवासी वर्ग के हैं और ये मध्य प्रदेश, हैदराबाद तथा आन्ध्र राज्यों में फैले हुए हैं । उनकी भाषा गोण्डी का अपना कोई साहित्य नहीं है और न उनका समाज ही अब उतना सुसंगठित रह गया है । जीवन में प्रगति के साथ-साथ उन्होंने अपने पड़ोसी प्रदेशों की आर्य भाषाओं जैसे हिन्दी, मराठी

और कहीं-कहीं उड़िया को और सुसंस्कृत द्रविड़ भाषा तेलुगु को भी अपना लिया है।

उड़ीसा में कुई भाषा बोलने वाले कन्ध (५,८६,०००), बिहार तथा उड़ीसा में कुरुख अथवा ओरांव (१०,३८,०००) और बिहार की राजमहल पहाड़ियों पर माल्टो (७१,०००) लोग हैं। ओरांव लोगों का अपना कोई साहित्य नहीं है और संख्या में अधिक होने पर भी वे, कन्ध और माल्टो-भाषी मलेर लोग शनैः-शनैः आर्य भाषा-भाषियों की भाषाएं स्वीकार कर उनके साथ घुलते-मिलते जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त बिलोचिस्तान (पाकिस्तान) में ब्रहुई लोग (२,०७,०००) हैं जो प्राचीन काल में भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व बसने वाले द्रविड़ों के वंशज कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त उदकमण्डलम के आसपास केवल नीलगिरि पहाड़ियों में रहने वाले लगभग ६०० टोडा लोग भी हैं।

द्रविड़ भाषाएं संयुक्त-शब्द-प्रधान हैं और इस प्रकार ये मग्यार, हंगेरियन, फिनिश, तुर्की, मंगोल आदि यूराल-आल्टेक भाषाओं से मिलती-जुलती हैं। इस द्रविड़ भाषा-परिवार का साहित्य ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में भी प्रचलित तमिल तथा अन्य द्रविड़ भाषाओं में मिलता है। परन्तु जो आदिवासी इन भाषाओं को बोलते हैं, वे अन्य आदिमभाषा-भाषी जातियों की अपेक्षा बहुत कम उन्नत हैं।

आस्ट्रिक मूल की आदिवासी भाषाएं

इनके अन्तर्गत सर्वप्रथम कोल अथवा मुण्डा वर्ग की भाषाएं आती हैं: बिहार, उड़ीसा, बंगाल और असम में सन्थाली (२५,००,००० से अधिक); मुण्डारी (६,५०,०००); हो (४,५०,०००); खड़िया (१,८०,०००); भूमिज (१,१३,०००) तथा बिहार की कुछ अन्य भाषाएं। कोरकु (१,६०,०००) मध्य प्रदेश और बरार में, सावरा (१,६६,०००) और गडबा (४४,०००) उड़ीसा में बोली जाती हैं। कोल अथवा मुण्डा वर्ग के अलावा असम में खासी लोगों (२,३४,०००) और निकोबारवासियों (१०,०००) की भाषाएं भी हैं।

आस्ट्रिक भाषा-भाषी लोगों को अपने साथ की कुछ अन्य भाषाएं जैसे बंगला या बिहारी, उड़िया या मराठी अथवा हिन्दी अवश्य सीखनी चाहिए। उनकी भाषाओं और बोलियों को जो भाषा शास्त्रियों के लिए महत्वपूर्ण हैं, लिपिबद्ध करने का कार्य सबसे पहले १९वीं शताब्दी में ईसाई मिशनरियों ने ही किया था। सन्थाली और मुण्डारी भाषाओं के लोकगीत और लोककथाएं बिल्कुल भिन्न हैं। स्कैण्डीनेविया के मिशनरियों और भारतीय विद्वानों ने इनके बहुत सुन्दर संकलन तैयार किए हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने खासी और सन्थाली को छोटी देशी भाषाओं के रूप में

स्वीकार कर लिया है। परन्तु अभी पिछले कुछ ही समय में आर्य भाषाओं ने अधिकांश आस्ट्रिक भाषा-भाषी क्षेत्र में प्रवेश किया है और सन्थाल आदि लोगों को द्वि-भाषा-भाषी बनने के लिए विवश किया है। यद्यपि इन भाषाओं के प्रति सरकार का दृष्टिकोण उदार है और सरकार तथा कहीं-कहीं विश्वविद्यालय भी इनके अध्ययन को प्रोत्साहन दे रहे हैं, परन्तु फिर भी आस्ट्रिक भाषा-भाषियों पर आर्य सभ्यता का प्रभाव बढ़ते जाने का स्वाभाविक परिणाम यह होता दीखता है कि आस्ट्रिक भाषा शनैः-शनैः लुप्त हो जाएगी। दूर और अलग प्रदेश में इस भाषा के विघटन की प्रवृत्ति अपेक्षतया धीमी हो सकती है क्योंकि वहां के आदिवासियों की चेतना प्रबल होती है जैसे कि खासी लोगों में।

आस्ट्रिक भाषाएं एक विशिष्ट भाषा-परिवार में आती हैं जिसमें मध्य भारत से लेकर बर्मा, वियतनाम, मलय, इण्डोनीशिया, और पूर्वी प्रशान्त महासागर के द्वीपों में प्रचलित बोलियां आ जाती हैं। भारत की कोल भाषाओं में बहुत से व्युत्पन्न या रचनात्मक तत्व हैं जैसे उपसर्ग, प्रत्यय, धातु इत्यादि। इनको जोड़कर अथवा इनकी सहायता से की गई शब्द-रचना बिल्कुल स्पष्ट है, किन्तु कुछ शब्द लम्बे हो जाते हैं। अधिकांश आस्ट्रिक भाषी लोग जो किसी समय उत्तरी भारत के मैदानों में रहते थे, अब उत्तरी भारत के आर्य भाषा-भाषी हिन्दू तथा मुसलमानों में घुलमिल गए हैं। इन लोगों ने आर्य भाषा को अपना लिया, परन्तु इस भाषा पर उनके अपनी भाषा बोलने के ढंग का भी प्रभाव पड़ा। इस प्रकार भाषाशास्त्र के विद्यार्थियों को वर्तमान आर्य भाषाओं पर आस्ट्रिक भाषाओं के प्रभाव का प्रमाण प्राप्त हुआ।

चीनी-तिब्बती मूल की आदिवासी भाषाएं

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, मंगोल जाति के आदिवासी हिमालय के दक्षिणी ढलानों, उत्तर तथा पूर्व बंगाल और असम में निवास करते हैं। चीनी-तिब्बती परिवार की विभिन्न बोलियां बोलने वाले मंगोल लोग अधिकांशतः नेपाल, सिक्किम, पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग जिले तथा असम में ही रहते हैं। चीनी-तिब्बती बोलियां जो बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से गौण हैं, बहुत ही छोटी आदिमजातियों में प्रचलित हैं जिनका सामान्यतः साहित्य से कोई सम्बन्ध भी नहीं है। ये भाषाएं चीनी-तिब्बती परिवार के ही अन्तर्गत विभिन्न शाखाओं में विभाजित हैं। पहले ये दो मुख्य शाखाओं में विभाजित थीं: (१) तिब्बती-बर्मी और (२) स्यामी-चीनी। अभी हाल में अमेरिकी भाषाशास्त्री राबर्ट शेफर ने चीनी-तिब्बती बोलियों को सात शाखाओं में बांटा है: (१) सिनिटिक, (२) भेनिक, (३) बौडिक, (४) बेरिक, (५) डाइक अथवा थाइ, (६) करेनिक और (७) बर्मिक। यहां इन बोलियों के वर्गीकरण पर व्यापक रूप से विचार करना आवश्यक नहीं है।

हिमालय के प्रदेशों में जैसे नेपाल और दार्जिलिंग में, केवल तिब्बती-बर्मी शाखा की बोलियां ही पाई जाती हैं। असम में भी इनमें से अधिकांश बोलियां इसी तिब्बती-बर्मी शाखा के अन्तर्गत आती हैं। असम के सुदूर पूर्व में खामटी बोली स्यामी-चीनी शाखा की है। उसी परिवार की एक भाषा अहोम असम के थाई विजेताओं की थी, जो अब लुप्त हो गई।

नेपाल, सिक्किम और दार्जिलिंग में रहने वाली तिब्बती-बर्मी भाषा-भाषी आदिमजातियां अब धीरे-धीरे नेपाल की आर्य भाषा स्वीकार कर रही हैं जो नेपाल सरकार के शब्दों में पर्वतिय या गोरखाली या खसकुरा या नेपाली है। इन आदिमजातियों में मुर्मी (४३,०००), मगरी (१८,०००), लेपचा (२५,०००), कनौरी (२६,०००) और किरन्ती (८८,००००) उल्लेखनीय हैं।

दूसरी ओर नेपाल में नेवार लोग हैं, जिनकी संख्या सम्भवतः ३,००,००० है और जो पिछले २,००० वर्षों से काफी प्रगतिशील रहे हैं और जिन्होंने बौद्ध धर्म, ब्राह्मण धर्म तथा संस्कृत भाषा अपनाई। नेपाल की संस्कृति, कला-कौशल, वास्तु-कला और समाज-संगठन के विकास में नेवार लोगों का बहुत बड़ा हाथ है। उन्होंने नेवारी भाषा में बहुत सुन्दर साहित्य की सृष्टि भी की। इसलिए नेवार लोगों की गणना आदिवासियों के अन्तर्गत नहीं की जा सकती। उनका साहित्य और सांस्कृतिक जीवन आज भी बड़ा समृद्ध है। बौद्ध धर्म की महायान शाखा के संस्कृत साहित्य को सुरक्षित रखने का पूर्ण श्रेय नेवार लोगों को ही है और उनकी गणना भारत की सभ्यता के अन्तर्गत सुसंस्कृत और प्रगतिशील जातियों में की जानी चाहिए।

तिब्बती लोग सिक्किम और भूटान, दोनों ही स्थानों में आकर बस गए और इन्हीं के वंशज इन स्थानों के शासक हैं। इनका ल्हासा के तिब्बती लोगों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। बोदो जाति के वंशज उत्तर बंगाल और पूर्वी बंगाल (त्रिपुरा राज्य) में, असम की ब्रह्मपुत्र घाटी में, गारो पहाड़ियों में और कछार जिले में निवास करते हैं। ये लोग पूर्वोत्तर भारत के तिब्बती-बर्मी वर्ग के एक महत्वपूर्ण अवशेष हैं और अब उत्तर बंगाल, पूर्वी बंगाल और असम के हिन्दूओं में घुल-मिल गए हैं। अभी भी कुछ ऐसी आदिमजातियां हैं जिनकी अपनी मूल भाषा है। प्रायः ६,११,००० लोग बोदो भाषा बोलते हैं। आसपास की असमिया और बंगला भाषाएं बोलने वाले लोगों को छोड़कर इनका अपना कोई सांस्कृतिक और साहित्यिक जीवन नहीं है।

उत्तर असम के सीमान्त प्रदेशों में अबोर, मीरी और डफला आदि कुछ अन्य तिब्बती-बर्मी आदिमजातियां हैं। असम राज्य में ब्रह्मपुत्र नदी के दक्षिण में

मिकिर पहाड़ियों में मिकिर लोग (१,२६,०००) और नागा लोग (३,४६,०००) रहते हैं जो अब बहुत-सी जातियों में बंट गए हैं। विभिन्न नागा आदिमजातियां साधारणतया परस्पर एक दूसरे की बोलियां नहीं समझतीं जैसे अंगामी, सेमा, अग्रो और तंगकुल। ये आदिमजातियां अभी तक बहुत पिछड़ी हुई हैं। इनकी कुछ भाषाओं को लिपिबद्ध करने का काम अभी हाल में कुछ ईसाई मिशनरियों ने ही किया है।

नागा प्रदेश के दक्षिण में कूकी-चिन वर्ग के तिब्बती-बर्मी लोग रहते हैं जिनकी भाषा बर्मी भाषा से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इनमें से सबसे अधिक प्रमुख मैथेयी अथवा मणिपुरी (३,६२,०००) हैं—ये बहुत उन्नत है। उन्होंने यदि पहले नहीं तो सम्भवतः पन्द्रहवीं शताब्दी में हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया और अठाहरवीं शताब्दी के मध्य में उन्होंने चैतन्य अथवा बंगाल शाखा का वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया। उन्होंने अपनी भाषा में बहुत सुन्दर साहित्य की सृष्टि की जो अब बंगला-असमिया लिपि में लिखा और प्रकाशित किया जाता है। भारत के सुदूर पूर्व में चीनी-तिब्बती भाषा बोलने वाले लोगों में से उनकी संस्कृति सबसे अधिक उन्नत है। नायक खम्ब और राजकुमारी थोइबी (१२वीं शताब्दी) के लोकप्रसिद्ध प्रेम आख्यान को लेकर अभी पिछले दिनों मणिपुरी भाषा में ३८,००० पंक्तियों की एक कविता लिखी गई थी। मणिपुरी भाषा का अपना समृद्ध नाटक-साहित्य भी है। कूकी-चिन लोगों में लुशाई लोग (६०,०००) अन्य प्रगतिशील लोग हैं।

चीनी-तिब्बती भाषाएं उसी परिवार की हैं जिसके अन्तर्गत चीनी, स्यामी, बर्मी और तिब्बती—ये चार सभ्य भाषाएं आती हैं। इनकी कुछ समान विशेषताएं भी हैं। ये सब अलग-अलग प्रदेशों की भाषाएं हैं, जिन पर दूसरी भाषाओं का प्रभाव पड़ने की गुंजाइश नहीं है। इन भाषाओं के शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध आरम्भ में विशेष प्रसंगों में प्रयुक्त धात्वीय शब्दों की सहायता से ही जाना जा सकता है। अपने नवीनतम रूप में ये भाषाएं ध्वनि भाषाएं बन गई हैं जिनमें स्वर के उतार-चढ़ाव का विशेष महत्व है। इस प्रकार 'मा' शब्द उच्चारण के भेद से कई अर्थों में प्रयुक्त हो सकता है। अर्थ का निश्चय स्वर के उतार-चढ़ाव के अनुसार होता है। इनमें से अधिकांश भाषाएं अब रोमन लिपि में लिखी जाती हैं और केवल नेवारी तथा मणिपुरी भाषाएं भारतीय मूल की लिपियों (मणिपुरी बंगला-असमिया लिपि में और नेवारी नागरी लिपि में) में लिखी जाती हैं।

स्वास्थ्य तथा संचार-साधन

(अगले दो लेखों में उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश की स्वास्थ्य और संचार-साधन सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया गया है। यद्यपि यह अध्ययन केवल इसी क्षेत्र के सम्बन्ध में किया गया है तथापि सामान्यतया यह सभी आदिम-जातीय क्षेत्रों के लिए लागू होता है।)

१

के० एल० मेहता

सभ्यता आदिमजातियों को दो वरदान दे सकती है : चिकित्सा की सुविधा और उन्नत संचार-साधनों की सुविधा। प्रथम वरदान जीवन को सुरक्षित बनाता है और दूसरा जीवन को जीने योग्य। भारत के उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश जैसे क्षेत्र में इन दोनों की समुचित व्यस्था करना सरल नहीं है।

आइए पहले हम चिकित्सा के विषय में विचार करें। उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश जैसे दूर स्थित और दुर्गम स्थान में आधुनिक चिकित्सा के सम्बन्ध में अनेक कठिनाइयां आती हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि आदिमजातियों को इसमें विश्वास नहीं है। उनके अपने चिकित्सक हैं, रोग निदान और चिकित्सा के अपने तरीके हैं। दूर के गांव से संक्रामक रोगों के फैलने का समाचार मिलना किसी भी चिकित्सक के लिए कोई नयी बात नहीं है। वह घने जंगलों और दुर्गम पहाड़ी रास्तों से होता हुआ चार-पांच दिन बाद अपने अभीष्ट स्थान पर पहुंचता है। वहां पहुंचने पर उसे पता चलता है कि लोगों को अब उसकी आवश्यकता नहीं है और लोग उसे अपने घरों में घुसने भी नहीं देंगे। कभी-कभी वे अपने रोगी को छिपा भी देत हैं। रोगी की चिकित्सा आरम्भ करने से पूर्व उसे उन्हें यह समझाना पड़ता है कि उसकी चिकित्सा से उन्हें लाभ ही होगा।

अन्धविश्वास कहकर, हमें आदिमजातियों की सभी औषधियों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। उनकी बहुत-सी औषधियां अत्यन्त लाभदायक भी हैं। उनको संक्रामक रोग-निरोध के सम्बन्ध में भी थोड़ा-बहुत ज्ञान है। इसलिए जब किसी गांव में कोई संक्रामक रोग फैलता है तो उस गांव के लोगों को दूसरे स्थानों में नहीं जाने दिया जाता। अनेक त्योहारों के अवसर पर गांव से बाहर जाना अथवा उसमें आना निषिद्ध होता है। सम्भव है कि उनके इस विचार का कारण यह रहा हो कि

जब बहुत-से लोग एक स्थान पर एकत्र होते हैं तो बाहर से आए हुए लोगों से छूत लगने का भय रहता है, यद्यपि आदिमजातीय लोग स्वयं चाहे इस बात से अनभिज्ञ ही हों।

भारत के सभी आदिमजातीय क्षेत्रों के सदृश यहां भी रोग का कारण भूत-प्रेत माने जाते हैं। इन लोगों का विश्वास है कि जब किसी व्यक्ति पर भूत आ जाता है तो उस व्यक्ति की मत्यु के बाद भूत पड़ौसी पर भी आ सकता है। हम कह सकते हैं कि यह विश्वास संक्रमण की आधुनिक विचारधारा का पुराना रूप है। कुष्ठ रोग के रोगी को अक्सर समाज से निकाल दिया जाता है, परन्तु सदा ऐसा नहीं होता।

कामेंग सीमान्त प्रदेश के कुछ भागों को छोड़कर जहां सीमा-पार तिब्बत से लाई गई कुछ औषधियों का प्रयोग होता है, अभी तक पीने की देशी दवाओं की खोज नहीं की जा सकी है। जड़ी-बूटियों का रस बहुधा ऊपर से लगाया जाता है। घावों को ठीक करने के लिए कभी-कभी एक बड़ा उत्तम तरीका अपनाया जाता है—कांटों को घाव के दोनों ओर घुसाकर उनके किनारों को धागे से बांध दिया जाता है ताकि वे टीक हालत में रहे। इससे घाव फैलता नहीं है और घाव भरने में सहायता मिलती है। इन लोगों के चिकित्सकों का सबसे अधिक महत्व मनोवैज्ञानिक दृष्टि से है क्योंकि ये रोगी में आत्मविश्वास की भावना पैदा कर उसमें जीवित रहने की आशा का संचार करते हैं।

आधुनिक चिकित्सक को यहां पर जो दूसरी कठिनाई होती है, वह व्यावहारिक और भौतिक है। उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना बहुत कठिन है। बस्तियां बहुत दूर-दूर हैं और जनसंख्या बहुत कम है। पहाड़ों के बीच भयानक और तीव्रगामी नदियां बहती हैं और वर्ष में प्रायः १५० से ३०० इंच तक वर्षा होती है। भारी वर्षा और भयानक भूकम्पों के दिनों में हमारे अधिकारियों ने रोगियों की सेवा करने का बीड़ा उठाया और उन्हें बहुत-से संकटों का सामना करना पड़ा। इस सम्बन्ध में कई उदाहरण मिलते हैं।

उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश में हमें अभी बहुत-कुछ करना है। दूर-दूर के क्षेत्रों में बड़े आपरेशनों के लिए प्रबन्ध करना असम्भव-सा है। उदाहरण के लिए चारदुआर से तवांग तक जाने में दस-बारह दिन लग जाते हैं। अभी पिछले दिनों एक गर्भवती स्त्री की स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई। उसका बच्चा गर्भाशय में ही मर चुका था और प्रसव में कठिनाई हो रही थी। हमारे एक चिकित्सक ने मेज के स्थान पर स्ट्रेचर से ही काम लेकर गांव की झोंपड़ी में उसके गर्भाशय का आपरेशन सम्पन्न किया।

हमारा परिश्रम अब सार्थक हो रहा है। चिकित्सक के प्रति अविश्वास की भावना धीरे-धीरे घट रही है। गत वर्ष जिन लोगों की चिकित्सा की गई उनकी संख्या पिछले वर्ष की अपेक्षा लगभग ८४,००० अधिक थी। वे आदिमजातीय लोग जो पहले चिकित्सक को देखते ही अपने घरों में छिप जाते थे, अब दवाखाने और अस्पताल बनाने की मांग कर रहे हैं। १९५२-५३ में जहां इस प्रकार की ५३ संस्थाएं थीं, अब इनकी संख्या ६० हो गई है। चलते-फिरते अस्पतालों की संख्या ९ से बढ़कर १६ और मलेरिया-निवारक टुकड़ियों की संख्या १२ से २२ हो गई है। गत वर्ष ६ लाख रुपये से बढ़कर १७ लाख रुपये व्यय हुए जिनमें से आधे से अधिक दवाइयों और चिकित्सा सम्बन्धी साज-सामान के खरीदने में व्यय हुए। पहाड़ पर रहने वाले सब लोगों की चिकित्सा निःशुल्क की जाती है। यह कार्य खुले दिल से किया जा रहा है। और सर्वोत्तम तथा आधुनिकतम औषधियों की व्यवस्था की गई है।

उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश का मुख्य रोग मलेरिया है। पिछले वर्ष जिन ढाई लाख रोगियों की चिकित्सा की गई उनम से ७५,००० से अधिक व्यक्ति मलेरिया से पीड़ित थे। यहां अधिकांश लोग पेट और आंत के रोग और चर्म रोग से पीड़ित रहते हैं। लगभग ११,००० व्यक्ति गण्डमाला रोग से ग्रस्त थे। यह रोग संसार के कुछ निश्चित क्षेत्रों के लोगों को होता है। इससे रोगी का शरीर विकृत हो जाता है। कुछ चने हुए क्षेत्रों में आयोडीन युक्त नमक के द्वारा इसकी चिकित्सा की जा रही है।

यहां कुष्ठ रोग से पीड़ित लोग बहुत अधिक हैं। अब तक आधुनिक उपचार-व्यवस्था से युक्त तीन कुष्ठ बस्तियां बसाई जा चुकी हैं। और चौथी बस्ती इस वर्ष बसाई जाएगी।

भविष्य के लिए भी कई योजनाएं बनाई जा रही हैं। क्षय रोग के रोगियों के लिए एक केन्द्रीय आरोग्य केन्द्र, एक केन्द्रीय प्रयोगशाला और एक ग्राम स्वास्थ्य केन्द्र खुलने की आशा है। उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश में भौतिक साधन यथेष्ट हैं। रोगों के अभिशाप से मुक्त होने पर आदिमजातीय लोग भारत की समृद्धि में महान योग दे सकते हैं।

इस क्षेत्र में चिकित्सक का एक महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह दूर-दूर के प्रदेशों में जाने वाले अभियान-दलों के साथ जाए। इन दूर स्थित क्षेत्रों में हम उन्हें जितनी अधिक सुविधाएं पहुंचाएंगे उतनी ही सौहार्द की भावना बढ़ेगी। आधुनिक सभ्यता के अग्रदूतों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान चिकित्सकों का है। पहले चाहे वे अनादृत रहें परन्तु अपने धैर्य, कुशलता और मैत्री भावना से वे सारे बन्धन तोड़ डालते हैं और तब वे लोग ही, जिन्हें दर्द और ज्वर से कभी छुटकारा नहीं मिला, उनके पास आशा लेकर आते हैं और कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

आधुनिक चिकित्साशास्त्र का विकास आदिमजातियों की परम्पराओं के अनुरूप ही होना चाहिए। इन सरल हृदय लोगों को पिछड़े हुए अथवा अन्ध-विश्वासी कहकर उनकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। हम उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश में इन दोनों शब्दों का प्रयोग नहीं करते। हमारे प्रधानमन्त्री का कहना है कि आदिमजातीय लोगों के पास हमें प्रेम भावना से जाना चाहिए और उन पर अपने विचारों को लादने का प्रयास नहीं करना चाहिए। इस कथन को चिकित्सकों और प्रशासन विभाग के अन्य सभी अधिकारियों को समान रूप से ध्यान में रखना चाहिए। चिकित्सक को चाहिए कि वह आदिमजातीय चिकित्सक को कपटी अथवा प्रतिद्वन्दी न समझकर अपना भाई और सहायक समझे। देशी चिकित्सा-पद्धतियों की खोज की जानी चाहिए और जहां तक हो सके सरल और सस्ती औषधियों का ही व्यवहार किया जाए। इस प्रकार विज्ञान का आरोग्यकारी प्रभाव आदिमजातियों तक स्वाभाविक और स्पष्ट रूप से पहुंच जाएगा।

मैं पहले ही बता चुका हूं कि उपर्युक्त संचार-साधनों के बिना चिकित्सक का काम कितना कठिन हो जाता है। हमारी सरकार इस कठिनाई को दूर करने के लिए यथासम्भव प्रयत्न कर रही है। जंगलों से भरे ३३,००० वर्ग मील के इस विस्तृत पहाड़ी क्षेत्र में मोटर योग्य सड़कों के निर्माण में वर्षों लगेंगे। इसलिए हमारा प्रयत्न वहां ऐसे मार्ग बनाने का है जहां घोड़े चल सकें क्योंकि मोटर-योग्य सड़कों की अपेक्षा इनके निर्माण की अधिक सम्भावना है और इन पर व्यय भी कम होगा। मार्ग बनाते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि आगे चलकर उन्हें जीप-योग्य चौड़ा किया जा सके। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारे इंजीनियरों ने लगभग १५० मील लम्बी मोटर-योग्य सड़कें, ७०० मील से अधिक लम्बे मार्ग और १२५ मील लम्बी पगडण्डियां बनाई हैं।

वर्तमान पंचवर्षीय योजना में लगभग ४०० मील लम्बी मोटर-योग्य सड़क और लगभग २,३८८ मील लम्बे मार्ग बनाने की व्यवस्था है। यह योजना काफी बड़ी है और इसे कार्यरूप देना सरल नहीं। पहली कठिनाई यह है कि चट्टानों के गिरते रहने के कारण, जो कभी-कभी ३०० से ५०० फुट तक लम्बी होती हैं, सड़क-निर्माण में निरन्तर बाधा पड़ती रहती है। सड़कें और मार्ग नदियों के किनारे-किनारे ढलानों पर बनाने पड़ते हैं। इसका अर्थ यह कि मार्ग बनाने के लिए बहुत-सी सहायक नदियां और झरने पार करने पड़ते हैं।

उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश में सड़कें बनाना इंजीनियरी की ही समस्या नहीं, मानवीय समस्या भी है। वहां हमें पूर्ण रूप से स्थानीय आदिमजातीय मजदूरों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। ये लोग अपने क्षेत्रों में मैदानों में रहने वाले मजदूरों का आना पसन्द नहीं करते और अपने खेतों का काम छोड़ कर स्वयं भी वर्ष में

तीन-चार महीने से अधिक समय नहीं दे सकते। आदिमजातीय मजदूर काफी संख्या में भी नहीं मिल पाते। इसके अतिरिक्त यहां काम केवल नवम्बर से फरवरी तक ही हो सकता है।

इन समस्याओं को हल करने के लिए हम उन मार्गों के निर्माण के निमित्त आदिमजातियों का सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे हैं जो स्पष्टतः उन्हीं के हित के लिए है। पासीघाट सामुदायिक योजनाकार्य क्षेत्र में ऐच्छिक श्रम से अब तक लगभग ४२ मील लम्बी सड़क बनाई जा चुकी है। हमारे अपने इंजीनियरी विभाग के अतिरिक्त हमें कुछ सैनिक इंजीनियरों की सहायता भी मिली है जो हमारे लिए दो सड़कें भी बना रहे हैं। प्रत्येक प्रशासन विभाग इस कठिन कार्य में सहायता कर रहा है। राजनीतिक अधिकारियों ने लगभग एक हजार मील लम्बे मार्ग बनाये हैं। लकड़ी लाने और ले जाने के लिए जंगल विभाग भी सड़कें बना रहा है।

ऐसी परिस्थिति में हमें बहुत सी वस्तुएं वायुयान द्वारा गिरानी पड़ती हैं। इस तरह के पहाड़ी प्रदेशों में वायुयान के उतरने के लिए केवल कुछ ही हवाई-पट्टियां बनाई जा सकी हैं, फिर भी भारतीय वायुसेना की सहायता से हम लगभग ५० प्रशासकीय केन्द्रों में सामान पहुंचा रहे हैं—सम्भवतः विश्व के इतिहास में शान्तिकाल का यह सबसे बड़ा वायु-अभियान है।

इस विवरण से नये और दुर्गम स्थानों में प्रवेश करने वाले अग्रणियों की कुछ कठिनाइयों का परिचय मिलने के अलावा यह भी सिद्ध हो जाता है कि धीर मनुष्यों के सतत प्रयत्न से और विज्ञान की सहायता से सब बाधाएं जीती जा सकती हैं।

२

डी० डी० वर्मा

केवल कुछ ही दिन पहले असम राज्य की सीमा-पार के लोगों को हमारे देश के उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ है। इस पर भी मेरा विश्वास है कि भारत की जनता इस प्रदेश के महत्व से साधारणतया अनभिज्ञ ही है। इसलिए यदि यहां की भौगोलिक स्थिति, भूमि की बनावट, जलवायु और यहां के निवासियों का एक संक्षिप्त परिचय दे दिया जाए तो यहां की स्वास्थ्य सम्बन्धी

समस्याओं को समझने में सहायता मिलेगी। इससे यह भी पता चलेगा कि अब तक इनके लिए कितना काम किया जा चुका है और क्या किया जा रहा है।

उत्तरपूर्व सीमान्त प्रदेश केन्द्रीय सरकार के विदेश मन्त्रालय के नियन्त्रण में है और इसका प्रशासन राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में असम के राज्यपाल के हाथ में है। उसकी सहायता के लिए एक परामर्शदाता होता है। प्रशासन की सुविधा के लिए यह प्रदेश छः सीमान्त भागों में बंटा हुआ है और प्रत्येक भाग में एक राजनीतिक अधिकारी (पोलीटिकल आफीसर) होता है।

मानचित्र की ओर देखने पर इस प्रदेश का सामरिक महत्व स्पष्ट हो जाता है। यहां भूटान, चीन का तिब्बती प्रदेश और बर्मा हमारे निकटतम पड़ोसी हैं। असम के मैदानों से मिले हुए एक छोटे से भाग को छोड़ कर इसका शेष भाग पहाड़ी है। इन पर्वतों में १३,००० से १५,००० फुट ऊंचे दर्रे हैं जिनसे होकर तिब्बत, भूटान और चीन से व्यापार होता है।

ऊंचाई के अनुसार यहां जगह-जगह की जलवायु भिन्न-भिन्न है और हिमालय की मुख्य पर्वतमालाओं के विपरीत यह भाग सदैव हिमाच्छादित नहीं रहता। प्रत्येक स्थान की वनस्पति में भी बहुत भिन्नता है। शंकुधर पेड़-पौधे केवल अधिक ऊंचाई पर पाए जाते हैं मगर वह भी सब जगह एक से नहीं। अधिकांश स्थानों पर बहुत घने जंगल हैं जिनके कारण यह प्रदेश प्रायः दुर्गम हो जाता है। आदिवासी लोग जिन थोड़ी-सी सड़कों का उपयोग करते हैं, वे हमारे प्रशासन विभाग द्वारा बनाई गई हैं और वर्षा काल में उन्हें ठीक रखना बहुत कठिन हो जाता है क्योंकि यहां वर्षा असाधारण रूप से बहुत अधिक दिनों तक होती है। कुछ क्षेत्रों में तो वर्षा फरवरी मास के अन्तिम दिनों से आरम्भ होकर अक्तूबर मास तक होती रहती है और प्रतिवर्ष औसतन १८० से २५० इंच तक होती है।

देश के इस भाग में रहने वाली पहाड़ी आदिम जातियों के जीवन पर ऐतिहासिक अभिलेखों से बहुत कम प्रकाश पड़ता है। कुछ मानव-विज्ञानवेत्ताओं ने समय-समय पर इन आदिवासी क्षेत्रों में जाकर इनके रीति-रिवाजों और संस्कृति का अध्ययन करने के प्रयत्न किए हैं। कुछ अंग्रेज अधिकारियों ने भी जिनकी नियुक्ति पहले इस क्षेत्र में हुई थी, यहां के कुछ स्थानों में आदिवासियों के जीवन का अध्ययन करने का प्रयत्न किया था। सम्भवतः भूतपूर्व अंग्रेज सरकार की ही यह नीति थी कि इन लोगों को बिल्कुल अलग रखा जाए और जब अशांति और विद्रोह की सम्भावना हो तो इन लोगों में समयानुकूल कानून और न्याय की व्यवस्था की जाए। यही नहीं, उनका कार्यक्षेत्र अपेक्षाकृत संकुचित रहा और कोई उल्लेखनीय कल्याणकारी कार्य नहीं हुआ। केवल स्वतन्त्रता के बाद ही हमारी सरकार ने अपना ध्यान

इस ओर केन्द्रित किया और कानून तथा व्यवस्था की स्थापना करने के अतिरिक्त लगनपूर्वक कल्याणकार्य आरम्भ किए। देश के अन्य भागों की भांति यहां भी पहली पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत संचार-साधनों में उन्नति हुई, शिक्षा का विकास हुआ, खेती की नयी पद्धतियां काम में लाई गईं और चिकित्सा तथा जन-स्वास्थ्य सम्बन्धी बहुत से कार्य हुए। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएं कुछ चौकियों पर नियुक्त सरकारी अधिकारियों की आवश्यकता के अनुरूप दी जाती रहीं। इन अधिकारियों में अधिकांश असम राइफल्स के ही थे। अगस्त, १९४७ के बाद ही स्थानीय आदिवासियों के लिए विशाल स्तर पर जन-स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाओं की व्यवस्था हुई। पिछली जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या लगभग आठ लाख है और प्रतिवर्ग मील में लगभग २२ व्यक्ति रहते हैं। इस प्रकार छः भागों में लगभग १२—१५ मुख्य आदिमजातियां हैं और इनके रीति-रिवाज, संस्कृति और बोलियां अलग-अलग हैं। इन जातियों की बहुत सी उपजातियां भी हैं परन्तु सबके रहन-सहन का ढंग पुराना और एक-सा ही है।

इन लोगों में अन्धविश्वास और भूत-प्रेतों में विश्वास बहुत पुराना और गहरा है। इसे दूर करके इन्हें आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली को स्वीकार्य बनाने के लिए चतुराई और धैर्य की आवश्यकता है। लोगों का विश्वास है कि रोग भूत-प्रेतों के कारण होते हैं और उनकी चिकित्सा तभी हो सकती है जब गांव का पुरोहित कुछ अनुष्ठान करे। आधुनिक चिकित्सक की चिकित्सा से जब रोगी को लाभ होने लगता है तभी आधुनिक चिकित्सा में उसका विश्वास बढ़ता है। यदि इन्हें एक बार यह विश्वास हो जाए तो फिर ये अधिक दवाखाने बनाने की मांग करने लगते हैं। वास्तव में इन लोगों में, जिनका आज भी भूत-प्रेतों में दृढ़ विश्वास है और उसके निवारण के लिए जो देव-पूजा करते हैं, आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का प्रचार करना और जन-स्वास्थ्य के कार्यों का विकास करना अत्यन्त कठिन काम है। इनके दैनिक जीवन में शारीरिक स्वच्छता और सफाई का भी कोई स्थान नहीं है इसलिए पानी और मक्खियों से फैलने वाले रोगों को रोकना अत्यन्त कठिन है।

अगस्त १९५१ तक स्वास्थ्य सेवाओं का प्रशासकीय नियन्त्रण असम सरकार के हाथ में था। परन्तु स्वास्थ्य सम्बन्धी योजनाओं की संख्या देखकर यह अनुभव किया गया कि उत्तरपूर्व सीमान्त प्रदेश में बदलती हुई परिस्थितियों को देखते हुए एक अलग चिकित्सा संगठन स्थापित किया जाना चाहिए। इसलिए १९५१ में एक मुख्य चिकित्सा अधिकारी नियुक्त किया गया और तब से उत्तरपूर्व सीमान्त प्रदेश में स्वास्थ्य सेवाओं के संगठन और विकास का एक नवीन अध्याय आरम्भ हुआ। पंचवर्षीय योजना की स्वास्थ्य योजनाओं को लागू करने के लिए कर्मचारियों की

विशाल स्तर पर सीधी नियुक्ति आरम्भ की गई और विविध योजनाओं को तुरन्त ही पूरा करने के लिए प्रशासन विभाग के लिए धन की व्यवस्था कर दी गई। तब से स्वास्थ्य विभाग दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति कर रहा है और स्वास्थ्य-कार्यों का संगठन करके तथा मलेरिया को रोकने की योजना बनाकर अपने कार्य का विस्तार कर रहा है। इस समय यहां १९ अस्पताल, २२ ऐसे दवाखाने जिनमें रोगियों की भर्ती करने की सुविधा है, १७ दवा बांटने वाले दवाखाने, २० चलते-फिरते अस्पताल, ३ कुष्ठ बस्तियां और २७ मलेरिया निवारक केन्द्र हैं, जबकि १९४६ में केवल १३ अस्पताल और दवाखाने तथा १ कुष्ठ बस्ती थी। चिकित्सा और जन स्वास्थ्य-कार्यों के विकास के अनुपात में व्यय भी उतना ही बढ़ रहा है। १९४६-४७ में कुल व्यय १.५२ लाख रुपये हुआ था जबकि १९५३–५४ में इस पर १८ लाख रुपये व्यय हुए।

१९५३–५४ में जिन रोगियों की चिकित्सा की गई, उनकी संख्या २,४९,४३९ थी जिनमें से ७५,११८ रोगी मलेरिया के थे। इससे प्रतीत होता है कि यहां की समस्याओं में मलेरिया की रोकथाम का काम मुख्य था। हमने यहां एक मलेरिया अधिकारी के निरीक्षण में एक मलेरिया संगठन की स्थापना की है। मलेरिया को रोकने के अतिरिक्त पिछले साल लगभग कुल एक लाख की जनसंख्या वाले ४१८ गांवों में डी० डी० टी० छिड़का गया। मलेरिया के बाद उदर और आंतों के रोग, त्वचा-रोग और गण्डमाला का नम्बर आता है। चलते-फिरते दवाखाने दवाएं देने के अतिरिक्त मैजिक लालटैनों की सहायता से उन लोगों को शिक्षित करने का काम भी करते हैं जो शारीरिक स्वच्छता और सफाई के नियमों से अनभिज्ञ हैं। कुछ पर्वतीय भागों में गण्डमाला रोग बारहों महीने होता है। उदाहरणतः हिमालय पर्वतमाला के निचले भागों में। इस रोग का सर्वेक्षण आरम्भ कर दिया गया है और आयोडिन-लवण बांटने के लिए एक आदर्श योजना बनाई गई है। इस योजना का उद्देश्य यह है कि आगे चलकर उस समूचे क्षेत्र में जहां यह रोग बारहों महीने होता है, आयोडिन-लवण बांटा जा सके। कुष्ठ रोग यहां के कुछ भागों में कहीं कम कहीं अधिक होता है और अब तक कुष्ठ रोगियों के लिए तीन बस्तियां बसाई जा चुकी हैं।

कुछ क्षेत्रों में तपेदिक के रोगियों का भी पता चला है। यह निश्चय किया गया है कि मुख्यालय के प्रत्येक अस्पताल में क्षय-रोगियों की चिकित्सा के लिए एक विभाग खोला जाए और एक केंद्रीय क्षय-निवारक-अस्पताल बनाया जाए, जहां विशेष आधुनिकतम चिकित्सा का प्रबन्ध हो। बी० सी० जी० का टीका लगाने के लिए भी कुछ लोगों को प्रशिक्षित किया गया है और जैसे ही इस प्रदेश के आन्तरिक भागों में मौसम अनुकूल होगा और संचार-साधनों की व्यवस्था होगी ये लोग अपना

कार्य आरम्भ कर देंगे। जन-स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं को अधिक संख्या में प्रशिक्षण देने के लिए एक ग्राम-स्वास्थ्य-प्रशिक्षण केन्द्र और एक केन्द्रीय प्रयोगशाला खोलने का विचार है। अभी उत्तरपूर्व सीमान्त प्रदेश के काफी अधिक लोगों को कल्याण योजना से लाभान्वित करना है। जिन चिकित्सकों ने इस प्रदेश के दूरवर्ती क्षेत्रों में आदिवासियों के हितार्थ काम किए हैं उनके कारण हमारी सरकार को बहुत सहायता मिली है। यहां के स्थानीय लोगों को विश्वास हो गया है कि सरकार की भावना उनके प्रति सौहार्दपूर्ण है।

चिकित्सा-विभाग के कर्मचारियों ने कष्ट झेलकर आदिमजातियों के लिए जो कुछ किया है वह बहुत महत्वपूर्ण और प्रशंसनीय है। इन लोगों ने शताब्दियों से उपेक्षित हमारे देश के इस भाग के निवासियों को डरा-धमका कर नहीं, वरन् उनका हृदय जीत कर उन्हें हमारे समाज का अंग बनाने में प्रशंसनीय योग दिया है।

आदिवासियों का आहार

पी० एन० सेनगुप्त

मनुष्यों को सर्वभक्षी कहा गया है। भारत की आदिमजातियों को हम दो भागों में बांट सकते हैं—प्रथम वे जातियाँ जो शाकाहारी हैं और खेती पर निर्भर रहती हैं। दूसरी वे जातियां हैं जो मांसाहारी हैं, शिकार प्रेमी हैं और एक स्थान से दूसरे स्थान तक घूमती रहती है। इस भेद का कारण चाहे कुछ भी हो परन्तु इतना तो निश्चित है कि सामान्यतः आदिवासियों का शरीर सुगठित होता है और सभ्य लोगों की अपेक्षा इनमें शारीरिक बल और सहन-शक्ति कहीं अधिक होती ह। इनमें से कुछ मुख्य जातियों के भोजन का सावधानीपूर्वक अध्ययन करने से पता चलता है कि संसार की बहुत सी सभ्य जातियों के भोजन की अपेक्षा इनके भोजन में कहीं अधिक पौष्टिक तत्व होते हैं।

आदिवासी जातियों के विकास, शारीरिक बनावट और स्वास्थ्य पर उनके भोजन की आदतों का प्रभाव हम उचित वैज्ञानिक उपायों से ही जान सकते हैं। परन्तु अभी तक इस प्रकार की वैज्ञानिक खोज नहीं हो पाई है और इनके सम्बन्ध में अब तक जो कुछ पता चला है, वह अपर्याप्त तथा अपूर्ण है।

भारतवर्ष तथा विश्व के अन्य भागों में जो कुछ मानव विज्ञान सम्बन्धी अध्ययन हुआ है, उससे आदिवासी लोगों की भोजन सम्बन्धी आदतों के विषय में बहुत-सी महत्वपूर्ण बातों का तो पता चलता है, परन्तु उनके भोजन में कैलोरी, प्रोटीन, खनिज और विटामिन कितना होता है, यह अभी तक पता नहीं चला है। इसीलिए उनकी भोजन विषयक आदतों का तुलनात्मक अध्ययन करना कठिन हो जाता है। फिर भी जो कुछ आंकड़े हमें मिले हैं उनसे आदिवासी लोगों की भोजन सम्बन्धी विविध रुचियों के विषय में महत्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है।

विश्व की सभी आदिवासी जातियों में एस्कीमो लोग सर्वत्र मांसाहारी हैं। वे लोग विशेष रूप से जल में रहने वाले जीवों पर जैसे सील मछली, ध्रुव प्रदेश में पाए जाने वाले भालू, सफेद व्हेल मछली और ध्रुव प्रदेशी खरगोश और चिड़ियों के अण्डों पर जीवन-निर्वाह करते हैं। शारीरिक आवश्यकताओं की दृष्टि से जितने पौष्टिक तत्वों की आवश्यकता होती है उसे देखते हुए आदिवासियों का भोजन अपूर्ण है और उसमें मण्डान्न का अभाव है। परन्तु एस्कीमो लोग शक्तिशाली और स्फूर्तिमय होते हैं तथा उनमें असीम शक्ति होती है। जापान के येज़ो द्वीप के ऐनस लोग भी मांसाहारी हैं। ये लोग मछली का शिकार करते और लोमड़ी,

भेड़िया, घोड़ा तथा मुर्गे का मांस खाते हैं । इसके अतिरिक्त ये लोग कुछ सब्जियां और कन्दमूल-फल भी खाते हैं । इसके विपरीत कराकोरम की ऊपरी घाटियों में रहने वाले हुंज़ा लोग केवल फलों और कृषिजन्य पदार्थों पर ही रहते हैं, परन्तु फिर भी इनके शरीर अधिक सुगठित होते हैं और इनमें सहन-शक्ति भी अधिक होती है । इनका भोजन अच्छा और पौष्टिक पदार्थों से पूर्ण होता है जैसे गेहूं, जौ, ज्वार-बाजरा, दाल, फलियां, आलू, हरी सब्जियां, शहतूत, खुरबानी आदि फल और दूध, घी तथा मक्खन । ये लोग कभी-कभी मांस भी खा लेते हैं और घर की बनी हुई अंगूर की शराब पीते हैं । कूनूर की पौष्टिक भोजन अनुसंधान प्रयोगशालाओं के भूतपूर्व निदेशक सर राबर्ट मैक्केरीसन के शब्दों में "शरीर की बनावट में भारतीय जातियां इन लोगों की कभी समता नहीं कर सकतीं । ये लोग दीर्घायु, स्वस्थ और सजीव, सहनशील और साधारणतया सब रोग मुक्त होते हैं । उनका भोजन प्राकृतिक खाद्य-पदार्थ है जो संसार में सबसे अधिक स्वास्थ्यवर्धक भोजन है ।"

विक्टोरिया न्यांज़ा के उत्तर-पश्चिम में स्थित बनयोरो में रहने वाली बकितारा जाति और भारत की नीलगिरि पहाड़ियों में रहने वाली टोडा जाति दूध और शाकाहार पर निर्भर रहती हैं । अफ़्रीका स्थित विक्टोरिया न्यांजा में जहां पशु बहुत अधिक पाए जाते हैं, लोग मुख्यत: दूध पर निर्भर रहते हैं । वे दिन में दो बार गाय का दूध पीते हैं और कुछ कन्दमल खाते हैं । टोडा लोगों का भोजन मुख्यत: दूध, घी, मक्खन, दही, अनाज, चीनी, फल और कन्दमूल होता है । प्राचीन काल में ये लोग केवल कन्दमूल-फल, मधु और दूध से बने हुए पदार्थों से ही जीवन-निर्वाह करते थे ।

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि विभिन्न जातियों के खाद्यपदार्थों में कोई समता नहीं है परन्तु इन खाद्यपदार्थों और उन प्रदेशों की जलवायु में कुछ सम्बन्ध अवश्य है । इन जातियों में शाकाहारियों की संख्या सबसे अधिक है और उसके बाद मांसाहारी और सर्वभक्षी जातियां उल्लेखनीय हैं । सबसे कम संख्या उन जातियों की है जो दूध पर निर्भर रहती हैं । व्यवस्थित रूप से खोज न होने और पूरे आंकड़े उपलब्ध न होने के कारण हम केवल विभिन्न खाद्य-पदार्थों के उपयोग की मात्रा ही जान सकते हैं परन्तु इनके भोजन में कैल्शियम, फासफोरस और लोहा आदि खनिज, प्रोटीन और पांच मुख्य विटामिन कितनी-कितनी मात्रा में होते हैं इसका हमें कोई निश्चित पता नहीं चलता ।

केन्द्रीय सरकार के मानव विज्ञान विभाग ने पहली बार भारत के आदि-वासियों के खाद्य-पदार्थ, पोषक तत्व, भोजन की पर्याप्तता, विभिन्न रोगों के कारण, जन्म और मृत्यु के आंकड़े, सम्भावित आयु, बच्चों के जन्म-मृत्यु के आंकड़े और आधार-चयापचय आदि की व्यवस्थित खोज का उत्तरदायित्व लिया है । इन अध्ययनों का उद्देश्य आदिवासियों के शरीर पर इनके भोजन के प्रभाव का विश्लेषण करना है ।

यह खोज कार्य सर्वप्रथम भारत के उत्तरपूर्व सीमान्त प्रदेश की अबोर पहाड़ियों में आरम्भ हुआ और अबोर तथा गेलोंग लोगों के विभिन्न भागों में कई वर्षों तक काफी काम हुआ। तदनन्तर यह खोज कार्य तिरुवांकुर पहाड़ियों में रहने वाले उरली और कणिक्कर लोगों के सम्बन्ध में भी हुआ। अब भारत की सभ्य जातियों और आदिवासी जातियों के भोजन के पौष्टिक तत्वों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

उत्तरपूर्व सीमान्त प्रदेश के असम राज्य में रहने वाले अबोर लोग जिस भाग में रहते हैं, वह तिब्बत और चीन की सीमा से मिला हुआ है। ये लोग १०–१५ मील की दूरी पर गांव में बस जाते हैं और चलती-फिरती खेती (झूम) करते हैं और अनाज, ज्वार-बाजरा तथा कुछ सब्जियां पैदा करते हैं। इन सब्जियों में सरसों की पत्तियों की भांति हरे पत्ते की 'पत्तु' नामक एक सब्ज़ी होती है। इसके अतिरिक्त ये लोग अनेक जंगली पौधों की पत्तियां भी बहुत खाते हैं। अरबी, आलुक (याम) बैंगन, हरी मिर्च, अदरख, प्याज़ और कुछ जंगली केले के वृन्त और फूल आदि का व्यवहार सब्ज़ियों के रूप में होता है। मांस के लिए अबोर लोग सुअर और मुर्गियां पालते हैं, शिकार करते हैं और मछलियां मारते हैं। जो मांस बच जाता है उसे ये लोग बाद में काम लाने के लिए सुखा लेते हैं।

सामान्यतः ये लोग अपने भोजन के लिए हिरन, जंगली भालू, गिलहरी और जंगली बिल्लियों का शिकार करते हैं और चिड़ियों तथा खेतों में घूमने वाले चूहों को जाल डालकर पकड़ते हैं। यदि नदी समीप होती है तो मछलियों को जाल डालकर और पानी को विषैला बनाकर पकड़ते हैं। अबोर लोग अक्सर मुर्गी खाते हैं और विशेष अवसरों पर सुअर का मांस खाते हैं। बहुत-से समृद्ध परिवारों में एक अर्ध-पालतू जानवर मिथाल पाला जाता है जिसे ये लोग स्थानीय भाषा में ऐस्सो कहते हैं। विशेष सामाजिक और धार्मिक अवसरों पर मांस के लिए इस जानवर की बलि दी जाती है और प्रायः इसके मालिक इसे अनाज अथवा अन्य सब्ज़ियों के बदले में बाजार में बेच देते हैं। विवाह के अवसर पर यह जानवर प्रायः वधू को उपहार के रूप में दिया जाता है। मुर्गी के अण्डे साधारणतया खाने के काम में नहीं आते बल्कि पूजा के अवसर के लिए रख दिए जाते हैं। इन पहाड़ियों के निचले भागों में चावल और ऊपरी भागों में अन्नयत और ज्वार-बाजरा आदि चीज़ें भोजन के प्रधान अंग हैं।

अबोर लोगों का भोजन बहुत साधारण होता है। ये लोग उबला हुआ कोई एक अन्न और उसके साथ उबली हुई सब्ज़ी, मछली या मांस खाते हैं। एक दूसरी चीज़ जिसे अबोर बड़ी रुचिपूर्वक खाते हैं वह मांस और हरे पत्तों का मिश्रण है जिसमें ये पिसी हुई मिर्च और नमक डालते हैं। जब तीन-चार लोग खाना खा चुकते हैं तो वे अपोंग नामक एक मादक पेय पीते हैं, जिसमें हलका नशा होता है। अबोर

लोगों का भोजन तैयार करने का ढंग बहुत सरल है। पकाने के पूर्व ये लोग न तो अनाज को धोते हैं और न उबलने के बाद उसका पानी ही फेंकते हैं। ये लोग खाना धीमी आंच पर बनाते हैं और बर्तन के ढक्कन को पत्ते की सहायता से कस कर बन्द कर देते हैं। इस प्रकार चावल और दूसरे अनाजों के पौष्टिक तत्व विशेष रूप से विटामिन 'बी' बहुत कम नष्ट होते हैं। अबोर लोग दूध से कोई खाद्य पदार्थ तैयार करना नहीं जानते और तेल का भी प्रयोग नहीं करते। चीनी और गुड़ इन लोगों को उपलब्ध नहीं होता। अबोर लोग जिन खाद्य पदार्थों का प्रयोग करते हैं उनका प्रतिदिन का औसत नीचे तालिका में दिया जा रहा है—

तालिका १

	औंस
चावल	२६.४
दूसरे अनाज	०.३
ज्वार-बाजरा	०.५
हरे पत्तों वाली सब्जियां	१.८
अन्य सब्जियां	१.४
मांस	१.४
फल	०.६
अपोंग (पिण्ट)	०.९

इस प्रकार के भोजन में जो पोषक तत्व पाए जाते हैं उनकी मात्रा नीचे तालिका में दी जा रही है—

तालिका २

केलोरी	२,९६२
प्रोटीन (ग्राम)	८२
चिकनाई (ग्राम)	१७.३
कार्बोहाइड्रेट (ग्राम)	६२४
कैल्शियम (ग्राम)	१.०
फासफोरस (ग्राम)	३.१
लोहा (मि० ग्रा०)	२०
विटामिन ए (आई० यू०)	४,१०३
थियामाइन (मि० ग्रा०)	१.५
रिबोफ्लेविन (मि० ग्रा०)	०.३
नियासीन (मि० ग्रा०)	३५.४
विटामिन सी (मि० ग्रा०)	६६

देशी मद्य—अपोंग

यह देशी मद्य 'मिरुंग' को अथवा मिरुंग और चावल को मिलाकर और उसे थोड़ा उबाल कर बनाया जाता है। इसमें पहले गर्म और फिर ठण्डा पानी डालकर इसका रस निकालते हैं। यह काफी पौष्टिक पेय है और इसमें प्रोटीन, खनिज तथा विटामिन आदि बहुत से तत्व रहते हैं। बियर के समान इसमें मादक तत्व बहुत कम मात्रा में होता है। प्रयोगशाला में वैज्ञानिकों ने जब अपोंग के कुछ नमूनों का परीक्षण किया तो उसमें प्रति १०० सी० सी० (३.५ औंस) जितने पौष्टिक तत्व पाए गए, वे निम्न तालिका के अनुसार हैं—

तालिका ३

केलोरी ५९	प्रोटीन ०.६%	कार्बोहाइड्रेट ८.३%
कैल्शियम १५.२% (मि० ग्रा०)	फासफोरस ६८.३% (मि० ग्रा०)	लोहा १.१५% (मि० ग्रा०)
थियामाइन २.५% (मि० से० ग्रा०)	नियासीन ०.६% (मि० ग्रा०)	सुरासार ५.२%

प्रतिदिन, प्रति व्यक्ति ०.९ पिण्ट अपोंग के उपयोग से जो खाद्य तत्व मिलते हैं, वे निम्न तालिका में दिखाए गए हैं—

तालिका ४

केलोरी	२९५
प्रोटीन (ग्रा०)	४.५
कार्बोहाइड्रेट (ग्रा०)	४१.५
कैल्शियम (मि० ग्रा०)	५२.५
फासफोरस (मि० ग्रा०)	३४१.५
लोहा (मि० ग्रा०)	५.८
थियामाइन (मि० से० ग्रा०) ..	१२.५
नियासीन (मि० ग्रा०)	३.०

उपर्युक्त आंकड़ों से स्पष्ट है कि अपोंग पीने के कारण अबोर लोगों के भोजन में पौष्टिक तत्वों की वृद्धि लगभग इस हिसाब से होती है—केलोरी १०%, प्रोटीन ५.५%, कैल्शियम ५.३%, फासफोरस ११%, लोहा २९%, और नियासीन ८%। यद्यपि अपोंग का सेवन पुरुष लोग ही अधिक करते हैं परन्तु चूंकि यह अधिक हानिकर नहीं हैं, इसलिए स्त्री और पुरुष, सभी इसका पानी के स्थान पर स्वतन्त्रता-पूर्वक प्रयोग करते हैं। लोक नृत्यों, गांव की बैठकों और उत्सवों के अवसर पर अपोंग के पिये जाने के कारण इसका सामाजिक और धार्मिक महत्व भी है।

तिरुवांकुर की पहाड़ियों में रहने वाली उरली जाति

तिरुवांकुर की उरली और कणिक्कर जातियों का भोजन अपेक्षाकृत बहुत असन्तुलित है। ये तिरुवांकुर राज्य के जंगली क्षेत्रों के गांवों में बस गई हैं। कभी-कभी ये लोग पास के बाज़ारों से अपनी दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुएं खरीदने आते हैं। चावल, दाल (लाल चना) और शकरकन्दी इनकी मुख्य फसलें हैं। ये लोग टैपिओका के पेड़ लगाते हैं और हरा पपीता, केले, बैंगन, सीताफल, तुम्बी, आलू-कचालू और थोड़ी-बहुत हरे पत्तों वाली सब्ज़ियां भी उगाते हैं। ये सुअर और मुर्गी नहीं पालते और विशेष रूप से टैपिओका, थोड़ा सा चावल, आलुक, और जंगली कन्दमूल खाकर जीवन-निर्वाह करते हैं। मांस, मछली, दूध और दूध से बने पदार्थों का प्रयोग ये लोग नहीं करते। कभी-कभी कुछ घरों में भोजन बनाने के लिए नारियल का तेल काम में लाया जाता है अन्यथा सामान्यतः ये खाद्य पदार्थों को केवल उबाल लेते हैं और कुछ सब्जियों को भून लेते हैं। कच्चे टैपिओका में रिबोफ्लेविन और विटामिन सी का अंश अधिक होता है परन्तु इसे दो बार उबालने के बाद ये इसका उबला हुआ पानी फेंक देते हैं। इनका विचार है कि दो बार उबाल लेने से टैपिकाओ में जो विषैला अंश होता है वह निकल जाता है। ये गरम किया हुआ या कोई भी मादक पेय नहीं पीते।

उरली लोगों के भोजन से सम्बन्धित जो सर्वेक्षण हुए हैं, उनके अनुसार एक व्यक्ति जितना भोजन करता है, यह निम्न तालिका में दिया जा रहा है—

तालिका ५

	औंस
. .. ..	७.१
टैपिओका	२१.४
दाल	१.१
हरे पत्तों की सब्ज़ियां	०.०४
अन्य सब्ज़ियां (आलुक और जंगली ..	—
कन्दमूल मुख्य रूप से)	१६.६
तेल	०.२
फल	०.५

उरलियों के भोजन में पौष्टिक तत्व निम्न तालिका में दिखाई गई मात्रा में पाए जाते हैं—

तालिका ६

केलोरी	२,२२८
प्रोटीन (ग्रा०)	३६.७
चिकनाई (ग्रा०)	६.१
कार्बोहाइड्रेट (ग्रा०)	४६८
कैल्शियम (ग्रा०)	०.३
फासफोरस (ग्रा०)	६.८
लोहा (मि० ग्रा०)	११.६
विटामिन ए (आई० यू०)	२६५
थियामाइन (मि० ग्रा०)	१.६
रिबोफ्लेविन (मि० ग्रा०)	०.५
नियासीन (मि० ग्रा०)	१५.१
विटामिन सी (मि० ग्रा०)	२७.६

अबोर और उरली लोगों का भोजन तथा औसत भारतीय भोजन

अबोर, उरली और आदिमजाति–भिन्न भारतीयों के भोज्य पदार्थ की मात्रा तथा उसके पौष्टिक तत्व निम्न दो तालिकाओं (तालिका सं० ७ और ८) में दिए गए हैं। तालिका सं० ८ के आंकड़े बम्बई, दिल्ली, पंजाब, मद्रास, असम और पश्चिम बंगाल में किए गए भोजन सम्बन्धी सर्वेक्षणों से लिए गए हैं। साथ ही भारतीय चिकित्सा शोध परिषद की पौष्टिक तत्व सलाहकार समिति द्वारा निर्धारित सन्तुलित भोजन विषयक आंकड़े भी दिए गए हैं ताकि इन भोज्य पदार्थों में पौष्टिक तत्वों की कमी होने या न होने का निर्णय किया जा सके।

तालिका ७

विभिन्न वर्गों के खाद्य पदार्थों की दैनिक औसत खपत
(औंस में)

	उपभोक्ता			
	आदिमजाति-भिन्न भारतीय	अचोर	उरली	आदिमजाति-भिन्न भारतीयों के लिए निर्धारित
चावल	१६.६	२६.४	७.१	१४.० (अनाज)
अन्य अनाज	—	०.३	२१.४ (टैपिओका)	—
ज्वार-बाजरा और दालें	२.३	०.५	१.१ (दाल)	३.०
हरे पत्तों वाली सब्ज़ियां	०.६	१.८	०.०४	४.०
अन्य सब्ज़ियां	४.१	१.४	१६.६	६.०
मांसाहार	०.६	१.४	—	४.०
तेल (चिकनाई)	०.६	—	०.२	२.०
दूध आदि	३.३	—	—	१०.०
फल	०.६	०.६	०.५	३.०
चीनी, गुड़	०.७	—	—	२.०
मादक पेय (पिण्ट)	—	०.६	—	—

तालिका ८

दैनिक भोजन के पौष्टिक तत्व

	आदिमजाति-भिन्न भारतीय	अबोर	उरली	आदिमजाति-भिन्न भारतीयों के लिए निर्धारित
केलोरी	२,५५०	२,९६२	२,२२८	३,०००
प्रोटीन (ग्रा०)	७२.१	८४.७	३६.७	८२
चिकनाई (ग्रा०)	२४.७	१७.३	६.१	—
कार्बोहाइड्रेट (ग्रा०)	४९८	६२४	४९८	—
कैल्शियम (ग्रा०)	०.६	१.०	०.३	१.०
फासफोरस (ग्रा०)	१.९	३.१	६.८	१.५
लोहा (मि० ग्रा०)	२६.५	३०.८	११.६	२०
विटामिन ए (आई० यू०)	३,०२०	४,१०३	२६५	३,०००-४,०००
थियामाइन (मि० ग्रा०)	१.९	१.५	१.६	१.५
रिबोफ्लेविन (मि० ग्रा०)	—	०.३	०.५	१.८
नियासिन (मि० ग्रा०)	—	३५.४	१५.१	१५
विटामिन सी० (मि० ग्रा०)	४४.५	६६.०	२७.६	५०

इन तालिकाओं से पता चलता है कि औसत भारतीय की अपेक्षा अबोर लोगों को १६% अधिक और उरलियों को ९% कम केलोरी मिलती है। औसत भारतीय को जितना प्रोटीन मिलता है उसकी अपेक्षा एक अबोर को १७% अधिक और उरली को लगभग ६७% कम मिलता है। मैदानी भागों में रहने वाला भारतीय जितना कैल्शियम खाता है, अबोर उससे ७०% अधिक और उरली ५०% कम खाता है। विटामिन ए एक औसत भारतीय की अपेक्षा अबोर को ३३% अधिक और उरली को २१% कम प्राप्त होता है।

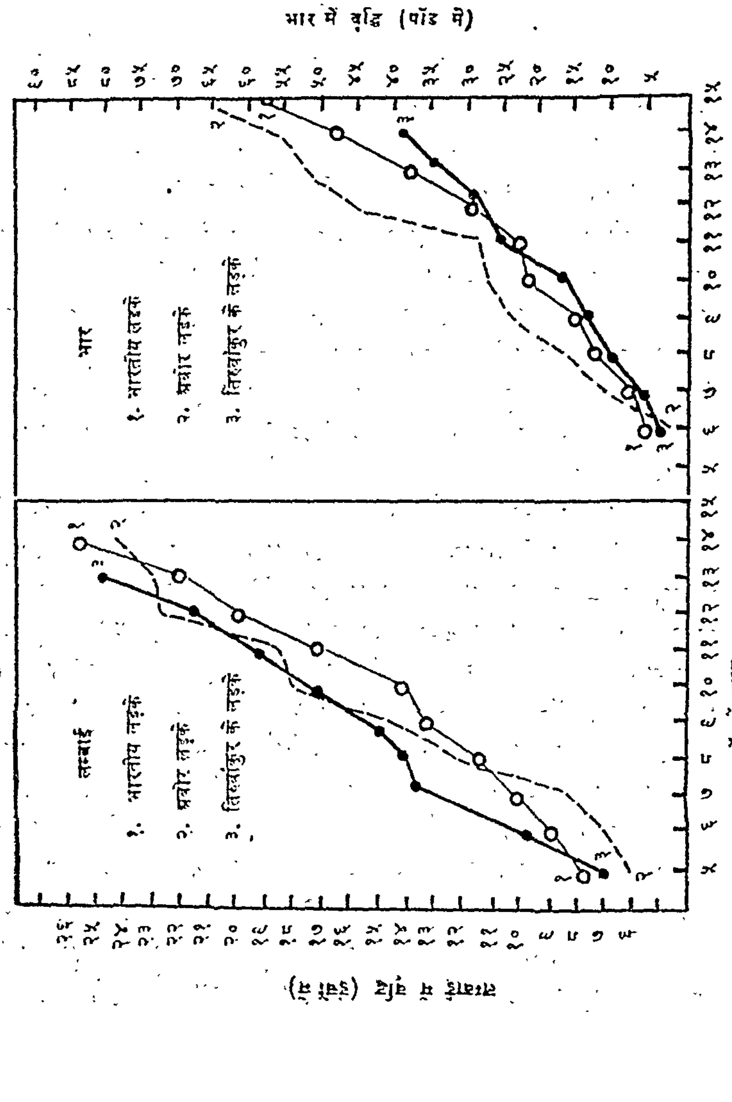
उपर्युत आंकड़ों से स्पष्ट है कि पौष्टिक तत्वों की दृष्टि से औसत भारतीय के भोजन की अपेक्षा अबोर लोगों का भोजन अधिक स्वास्थ्यवर्धक है और उरली लोगों का कम। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि उरली भोजन में केलोरी, शरीर को पुष्ट करने वाले तत्व और बहुत से विटामिनों का अभाव है। अबोर लोगों का भोजन उरलियों की अपेक्षा इसलिए अधिक पौष्टिक होता है कि ये अन्न और सब्ज़ियां काफी मात्रा में खाते हैं, उचित मात्रा में मांस का प्रयोग करते हैं और प्रोटीन तथा खनिज से युक्त अपोंग पेय का सेवन करते हैं।

अबोर लोगों के भोजन में इतने पौष्टिक तत्व होने के बावजूद उसमें कई दोष हैं, जैसे केलोरी की मात्रा जलवायु और वहां के लोगों के शरीर के आकार और काम के अनुरूप नहीं है, जीव-प्रोटीन भी यथेष्ट नहीं है और मांस को सुखाने और धुआं देने के कारण उसका बहुत-सा प्रोटीन तत्व नष्ट हो जाता है। कैल्शियम उनको मुख्यतः हरे पत्तों वाली सब्ज़ियों द्वारा मिलता है। यह कैल्शियम शरीर में पूरी तरह रम नहीं पाता। अबोर लोगों के भोजन की एक कमी इसी बात से स्पष्ट हो जाती है कि अबोर पहाड़ियों के सभी गांवों में स्त्री और पुरुष दोनों को गण्डमाला का रोग बारहों महीने हुआ करता है। अबोर पहाड़ियों के पदम और मिनयोंग नामक क्षेत्रों में क्रमशः ५१.२ प्रतिशत और ३६.० प्रतिशत परिवार अर्थात क्रमशः १३.१ और ९.८ प्रतिशत व्यक्ति इस रोग से पीड़ित रहते हैं। किन्तु सिबूम के पंगी गांव में ७५ प्रतिशत से अधिक परिवार अथवा ३५ प्रतिशत से अधिक लोग इस रोग से पीड़ित रहते हैं। इस बारहमासी रोग का मुख्य कारण आयोडीन का अभाव है जो इस क्षेत्र के सम्भवतः समुद्र से दूर होने के कारण है। इस रोग के कुछ अन्य कारण भी हो सकते हैं—पत्तु के जरिए गण्डमाला का रोग पैदा करने वाले तत्वों का शरीर में पहुंचना और दूषित जल पीने से होने वाला संक्रमण—आजकल वैज्ञानिक इस बात की खोज कर रहे हैं कि आदिवासी क्षेत्रों के भोजन, मिट्टी और पानी में आयोडीन कितनी मात्रा में होता है, इस रोग के फैलने में पत्तु का कितना हाथ है और पत्तु के स्थान पर पत्ते वाली अन्य किस सब्ज़ी का प्रयोग हो सकता है। तिरुवांकुर के उरली और कणिक्कर लोगों को गण्डमाला का रोग नहीं होता।

बच्चों का तुलनात्मक शारीरिक विकास

भोजन की पौष्टिक शक्ति की सच्ची कसौटी यह है कि बच्चों के शारीरिक विकास में भोजन कितना सहायक होता है। इसीलिए ५ से १५ वर्ष तक के अबोर, उरली और आदिमजाति-भिन्न भारतीय बच्चों के शारीरिक विकास का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इससे यह पता चलता है कि उनका भोजन बच्चों के भार और लम्बाई की वृद्धि पर कितना प्रभाव डालता है। अगले पृष्ठ पर जो चार्ट दिया गया है, उससे ज्ञात होता है कि सभी बच्चों की लम्बाई समान होते हुए भी अबोर बच्चों का भार सबसे अधिक और तिरुवांकुर के बच्चों का सबसे कम होता है। इससे उनके भोजन में पौष्टिक तत्वों के अभाव का स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है। आदिम-जाति-भिन्न भारतीय लड़के के भार की अपेक्षा अबोर लड़के का भार आठ पौण्ड अधिक और उरली लड़के का भार बारह पौण्ड कम होता है।

५ से १५ वर्ष तक के आदिमजाति-भिन्न भारतीय, अबोर और तिरुवांकुर के लड़कों की तुलनात्मक लम्बाई और भार



सामाजिक संगठन

तारक चन्द्र दास

भारत की जनसंख्या में काफी अनुसूचित आदिमजातियां हैं। १९५१ की जनगणना के अनुसार इनकी संख्या १ करोड़ ९१ लाख है। प्रति १,००० भारत-वासिओं में से ५४ आदिवासी हैं। इनकी संख्या अनुसूचित जातियों की जनसंख्या की जो ५ करोड़ १३ लाख है, एक-तिहाई से अधिक है।

आदिमजातियों के ये १ करोड़ ९१ लाख लोग घने जंगलों और दुर्गम पहाड़ों के कुछ क्षेत्रों में रहते हैं। इतिहास से पता चलता है कि इनमें से अधिकांश लोग किसी समय भारत के विस्तृत मैदानी भागों और नदी की उपजाऊ घाटियों में रहा करते थे। एक समय ऐसा आया जब अधिक शक्तिशाली लोगों ने इनको खदेड़ कर इन्हें वर्तमान स्थानों में बसन क लिए विवश कर दिया। इन स्थानों में इन लोगों ने विजेताओं के प्रभाव से बचकर अपनी संस्कृति और जाति को सुरक्षित रखने का भरसक प्रयत्न किया।

पास-पास स्थित क्षेत्रों में चार ऐसे प्रमुख प्रदेश हैं जहां आदिमजातियों के लोग काफी संख्या में बसे हुए हैं। पूर्व में इनका क्षेत्र असम, मणिपुर, और त्रिपुरा है जहां इनकी संख्या २१ लाख है। असम में रहने वाली आदिमजातियों का सम्बन्ध उत्तर में पश्चिम बंगाल की विशेष रूप से दार्जिलिंग और जलपाइगुड़ी के जिलों में रहने वाली आदिमजातियों से है। पश्चिम बंगाल, बिहार और उड़ीसा, इन तीन समीपवर्ती राज्यों का एक ऐसा मिला-जुला भाग है जहां ८२ लाख आदिवासी रहते हैं। इन लोगों की जातीय और सांस्कृतिक विशिष्टताएं बहुत-कुछ एक समान हैं। भारत के सबसे अधिक आदिवासी इसी क्षेत्र में रहते हैं।

पश्चिम में मध्य प्रदेश में आदिमजाति का एक दूसरा क्षेत्र है जो विन्ध्य प्रदेश, मध्य भारत और हैदराबाद तक फैला हुआ है। इस क्षेत्र में इनकी संख्या ४३ लाख है। इन लोगों में भी प्रायः जातिगत और सांस्कृतिक समानताएं पाई जाती हैं।

इसके बाद बम्बई का आदिमजाति क्षेत्र आता है जहां ३४ लाख आदिवासी रहते हैं। मद्रास में ७ लाख आदिवासी रहते हैं जो पूरे राज्य में छोटे-छोटे दलों में फैले हुए हैं। संख्या की दृष्टि से यह क्षेत्र महत्वपूर्ण नहीं है।

इन चार मुख्य क्षेत्रों के अतिरिक्त आदिवासी कुछ और भी छोटे-छोटे स्थानों में बसे हुए हैं जो सामाजिक दृष्टि से तो अवश्य महत्वपूर्ण हैं, परन्तु राजनीतिक अथवा आर्थिक दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं।

आदिमजातियों के इन विभिन्न क्षेत्रों के सामाजिक संगठन में जहां कुछ समानताएं हैं, वहां कुछ असमानताएं भी हैं। स्थानाभाव के कारण हम यहां उनका विस्तृत विवेचन नहीं कर सकते, परन्तु हम उनके सामाजिक संगठन का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न अवश्य करेंगे।

किसी भी समाज के दो अंग होते हैं—इकाइयां और संस्थाएं। जिस प्रकार एक आधुनिक गगनचुम्बी अट्टालिका बनाने में धरन, कब्जे, हुक, कोण आदि बहुत-सी चीजों को विभिन्न प्रकार से जोड़ कर इस्पात का ढांचा तैयार किया जाता है, उसी प्रकार मानव समाज की आधारस्वरूप विभिन्न प्रकार की इकाइयां होती हैं जो रक्त सम्बन्ध, स्थान, लिंग, आयु आदि अनेक बातों पर आधारित होती हैं। प्रत्येक इकाई में उसकी रचना के अनुरूप बहुत-से व्यक्ति होते हैं। कभी-कभी एक इकाई में हजारों-लाखों व्यक्ति होते हैं जैसे छोटा नागपुर की किसी आदिमजाति का एक पूरा वंश और कभी-कभी इसमें चार या पांच व्यक्ति ही होते हैं जैसे एक न्यष्टि परिवार। ये विभिन्न आकार-प्रकार की इकाइयां अनेक प्रकार से परस्पर सम्बन्धित होती हैं और प्रत्येक का अपना कार्य होता है। इस कार्य का उचित पालन करने से ही समाज में सुव्यवस्था बनी रहती है।

सामाजिक संगठन का दूसरा अंग—संस्थाएं—गारा-चूने के समान है जो सामाजिक ढांचे के रिक्त स्थानों को भरता है और सामाजिक भवन को निश्चित रूप, अलंकार और सौंदर्य प्रदान करता है। ये संस्थाएं सामूहिक कार्य से युक्त सुनिश्चित नियमों अथवा कार्य की परिस्थितियों का ही दूसरा नाम है। ये अधिक विस्तृत और मौलिक प्रथाएं हैं जिनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं—विवाह, शिक्षा, सम्बन्धी जन, सम्पत्ति, कानून और धर्म। बहुत-सी अन्य संस्थाएं भी हैं जो अधिक महत्वपूर्ण न होते हुए भी किसी समाज की संस्कृति को एक विशेष दिशा में प्रवाहित करती हैं। अब हम कुछ इकाइयों और संस्थायों का संक्षिप्त परिचय देने की चेष्टा करेंगे।

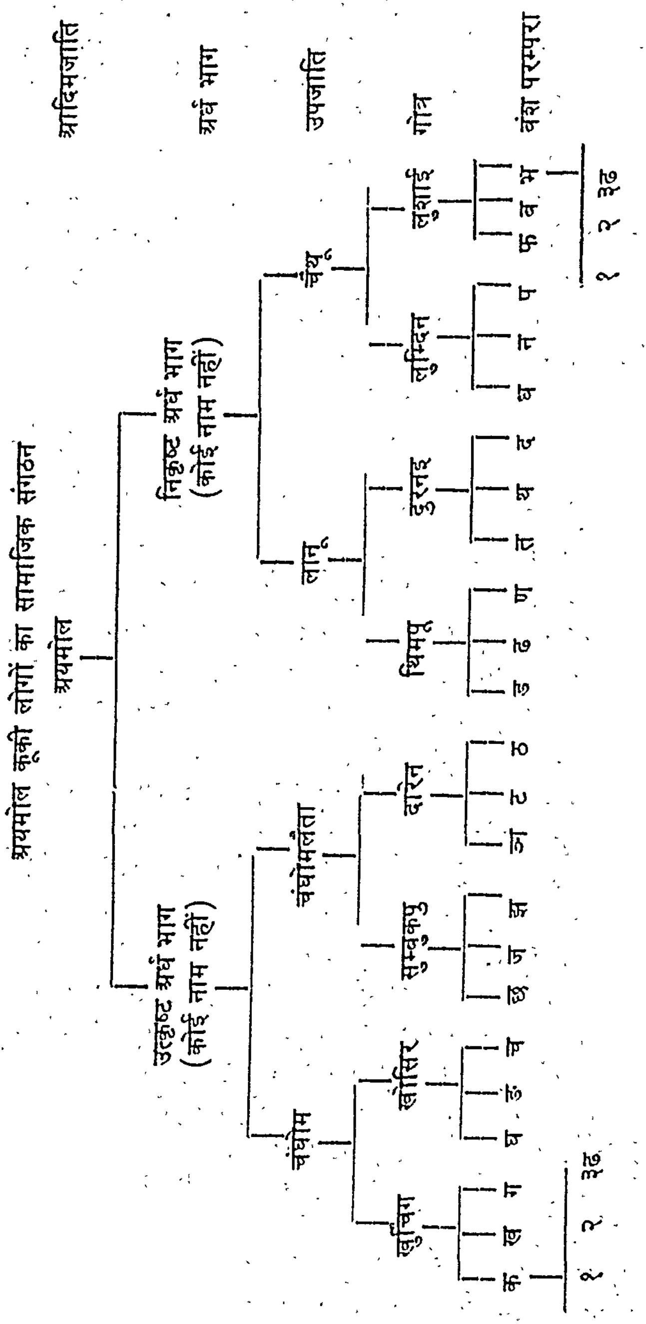
सामाजिक इकाइयां

रक्त पर आधारित सामाजिक वर्ग सम्भवतः सब से अधिक महत्वपूण सामाजिक इकाइयां ह। ये वर्ग आदिम और उन्नत, दोनों ही प्रकार की जातियों में पाए जाते हैं। इस प्रकार के वर्गों का आधार परिवार, वंश, जाति, उपजाति और आदिम जातियां होती हैं। सामान्यतः इन वर्गों के सदस्य अपने आपको एक ही पूर्वज के वंशज समझते हैं और यह मानते हैं कि उनकी धमनियों में एक ही रक्त प्रवाहित हो रहा है। ये पूर्वज बहुत पहले के और बहुत बाद के दोनों हो सकते हैं जैसे असम के खासियों की का यावेई-तिनराय (मूल की मातामही) और का यावेई-खिनराय (युवा मातामही)। इसमें का यावेई-तिनराय गोत्र

(कुर) की पूर्वजा और का यावेई-खिनराय परिवार (ईग) की पूर्वजा है। परिवार और वंश के अनुसार किए गए वर्गों में पूर्वजों का पता सरलता-पूर्वक लग जाता है परन्तु जाति, उपजाति अथवा आदिमजाति आदि के अनुसार वर्गीकृत दलों के पूर्वजों का निश्चय न तो वंश परम्परा के आधार पर सम्भव है और न इतिहास के। इन वर्गों के पूर्वज सदैव कल्पित हुआ करते हैं और उनकी स्थिति तथा काल का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिल सकता।

इन वर्गों के लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध और व्यवहार उनके पूर्वजों की प्रकृति के अनुकूल होते हैं चाहे ये पूर्वज वास्तव में रहे हों या केवल कल्पित हों। इसके अतिरिक्त कुछ और भी बातें हैं जिन पर ये सम्बन्ध आधारित होते हैं। किसी वर्ग के व्यक्तियों के सम्बन्ध एक दूसरे के साथ जितने घनिष्ठ होते हैं उसी के अनुसार उनके कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व होते हैं। अब हम कुछ वास्तविक उदाहरण लेकर विचार करेंगे।

मणिपुर में अयमोल नामक एक साधारण और पुरानी कूकी आदिमजाति है। ये जिन थोड़े-से गांवों में रहते हैं, उनमें एक को छोड़कर शेष सभी लोगटाक झील के पूर्व की पहाड़ियों पर स्थित हैं। उनका सामाजिक संगठन अत्यन्त सन्तुलित है जैसा कि अगले पृष्ठ की तालिका में दिखाया गया है।


अयमोल कूकी लोगों का सामाजिक संगठन
आदिमजाति
अर्ध भाग
उपजाति
गोत्र
वंश परम्परा
अयमोल
उत्कृष्ट अर्ध भाग (कोई नाम नहीं)
निकृष्ट अर्ध भाग (कोई नाम नहीं)
चंचोम
चंचोमलता
लान्
चैथ्
खुल्चिंग
खोसिर
सुन्ग्कुपु
दारेन
थिमपु
डुनाइ
लुन्दिन
लुशाई
क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ
१ २ ३७
१ २ ३७

जैसा पिछली तालिका में दिखाया गया है आदिमजाति दो अर्ध भागों में बांटी गई है जिनके कोई नाम नहीं दिए गए हैं, परन्तु फिर भी उनके सामाजिक दर्जे अलग-अलग हैं। एक भाग दूसरे से अपेक्षया उत्कृष्ट है। प्रत्येक अर्ध भाग दो उपजातियों में और प्रत्येक उपजाति दो गोत्रों में बंटी हुई है। इस आदिमजाति में उपजाति और गोत्रों के अपने-अपने नाम हैं। यहां तक यह वर्गीकरण समरूप है और प्रत्येक बड़ा वर्ग दो छोटे वर्गों में बंटा हुआ है, परन्तु प्रत्येक गोत्र दो से अधिक वंशों में और प्रत्येक वंश दो से अधिक न्यष्टि परिवारों में विभाजित है। (तालिका में वंशों का संकेत तीन अक्षरों के द्वारा किया गया है क्योंकि वंश दो से अधिक हैं। न्यष्टि परिवार आरम्भ और अन्त में अंकों के द्वारा सूचित किए गए हैं। इनका संकेत ३ अंकों के द्वारा केवल यह बताने के लिए किया गया है कि प्रत्येक वंश में उनकी संख्या दो से अधिक है।)

जब हम पूरी जाति से न्यष्टि परिवार तक का क्रमवार अध्ययन करते हैं तो पता चलता है कि विभिन्न वर्गों के लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध धीरे-धीरे घनिष्ठ होते जाते हैं और अन्त में घनिष्ठतम हो जाते हैं। सम्बन्ध की घनिष्ठता के अनुरूप ही उनके कर्तव्य और उत्तरदायित्व भी अलग-अलग होते हैं। उदाहरणार्थ अयमोल लोगों के न्यष्टि परिवार में माता-पिता का कर्त्तव्य है बच्चों के वयस्क होने तक उनका लालन-पालन करके उनकी रक्षा करना और उन्हें शिक्षा देना। साथ ही बच्चों का भी यह कर्त्तव्य है कि वे अपने माता-पिता को प्रेम और सम्मान की दृष्टि से देखें, उनकी आज्ञा का पालन करें और जब वे बूढ़े हो जाएं तो उनका पालन करें।

वंश के, जो सामाजिक दृष्टि से इससे बड़ा वर्ग है, सदस्यों में इस पारस्परिक सम्बन्ध का निश्चित पता नहीं चलता। इसके सदस्य एक-दूसरे की सहायता अवश्य करते हैं परन्तु उतनी नहीं जितनी एक न्यष्टि परिवार के लोग। गोत्र के सदस्य एक-दूसरे की सहायता आपत्तिकाल में करते हैं परन्तु ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं और जो सहायता दी भी जाती है, वह विशेष अर्थपूर्ण नहीं होती। उदाहरण के लिए जब एक अयमोल ऐसे गांव में जाता है जहां उसका कोई सम्बन्धी अथवा मित्र नहीं है तो उसे अपने सगोत्रीय व्यक्ति से आतिथ्य निश्चित रूप से प्राप्त होता है। इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि उनका परिचय पहले से ही हो। इस प्रकार के आतिथ्य में दोनों ओर से कोई संकोच नहीं होता और इसे सामान्य प्रथा के रूप में ग्रहण किया जाता है। इससे अधिक उनका न कोई कर्त्तव्य होता है और न उत्तरदायित्व ही और न किसी सहायता अथवा सुविधा की ही आशा की जाती है।

यह बात प्रत्येक आदिमजाति के लिए लागू नहीं होती। पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त में रहने वाली आदिमजातियों में सगोत्रीय लोगों का सम्बन्ध

अधिक घनिष्ठ होता है। इन लोगों में सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना इतनी प्रबल होती है कि किसी एक सगोत्रीय व्यक्ति की किसी कार्रवाही को लेकर दूसरी जाति से युद्ध छिड़ने पर सब के सब अपने जीवन का मोह छोड़कर वर्षों तक अपना खून बहाने के लिए तैयार रहते हैं। उपजाति और अर्धभाग वाले वर्गों में हम सामान्यतः कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व की यह भावना नहीं पाते। उनका यह सम्बन्ध वैवाहिक और यौन सम्बन्ध विपयक निषेध पर आधारित होता है।

समाज का प्रत्येक व्यक्ति इन सभी वर्गों का, जो रक्त सम्बन्ध पर आधारित हैं, सदस्य होता है। इनके साथ उसका यह सम्बन्ध या तो माता के वंश से होता है या पिता के और इस प्रकार दो मातृ और पितृ वंशानुक्रमों की स्थापना होती है। असम की खासी जाति के लोगों में रक्त पर आधारित सभी सामाजिक वर्ग मातृपक्ष के अनुसार निर्धारित होते हैं, जबकि नागा जाति में पितृपक्ष के अनुसार। समाज संगठन में व्यक्ति के मातृ अथवा पितृ पक्ष से सम्बन्धित होने का विशेप महत्व है क्योंकि उसी से पद और सम्पत्ति के उत्तराधिकार का निश्चय होता है। इस प्रकार के सम्बन्धों का निर्णय करने में व्यक्ति का कोई हाथ नहीं होता। इसका निश्चय उसके जन्म से होता है– अर्थात् उसका जन्म रक्त पर आधारित किस वर्ग में हुआ है।*

सामाजिक वर्गीकरण में रक्त के समान ही स्थान का भी महत्व है। खानाबदोशों और एक स्थान पर बसे लोगों, दोनों में स्थान के आधार पर वर्ग बनते हैं। बड़े अन्दमान के खानाबदोश अन्दमानवासियों का एक वर्ग था जो इसी आधार पर बना था और सामाजिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण था। प्रत्येक आदिमजाति बहुत से स्थानीय वर्गों में बांटी जाती थी। प्रत्येक स्थानीय वर्ग में उसी स्थान में उत्पन्न प्रत्येक आयु के ३० से लेकर ५० व्यक्ति हुआ करते थे। स्थानीय वर्ग स्वतन्त्र था जिसका एक अपना जीवन प्रवाह था और जो अपने कार्यों और शासन के लिए स्वयं उत्तरदायी होता था। सामान्यतः इसका स्वामित्व का अधिकार लगभग १६ वर्ग मील लम्बे चौड़े क्षेत्र पर हुआ करता था। वर्ग के सदस्य इसी क्षेत्र में कन्दमूल फल, शिकार, मछली आदि की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान तक घूमा करते थे। इसी प्रकार के दूसरे वर्गों के सदस्य यदि उनके क्षेत्र में घुसते थे तो वे बहुत बुरी तरह उसका विरोध करते थे और प्रायः युद्ध छिड़ जाता था। स्थानीय वर्गों

---

*रक्त सम्बन्ध पर आधारित सामाजिक इकाइयों के विशेष विवरण के लिए देखिए इसी लेखक के लेख—दि इण्डियन जर्नल आफ़ सोशल वर्क, खंड १४, संख्या ३, दिसम्बर १९५३ में 'सोशल आरगैनिजेशन आफ़ दी ट्राइबल पीपल्स।'

का अपना राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन हुआ करता था। इन मामलों में प्रत्येक सदस्य का जीवन इसके नियमों से संचालित होता था। एक स्थानीय वर्ग में जन्म लेकर भी *व्यक्ति आजन्म उसका सदस्य रहने के लिए बाध्य* नहीं था। वह अपना वर्ग छोड़कर दूसरे वर्ग का सदस्य बन सकता था बशर्ते कि दूसरे वर्ग को आपत्ति न हो।

जो जातियां एक स्थान पर बस गई हैं उनके लिए स्थान पर आधारित वर्गीकरण में गांव का विशेष महत्व है। प्रत्येक गांव का अपना राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन होता है। भारत में बहुत-सी टिक कर बसी हुई आदिमजातियों की राजनीतिक चेतना अपने ग्राम-राज्य तक ही सीमित रहती है। छोटा नागपुर की मुण्डा, औरांव और सन्थाल आदिमजातियों में हमें ग्राम संघ की भावना अवश्य मिलती है परन्तु यह अभी पूर्ण रूप से विकसित नहीं है।

गांव का निवासी होने के नाते समाज के प्रति व्यक्ति के कुछ कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व होते हैं। मणिपुर के पुरुम कूकी लोगों में जब गांव के झगड़ों का फैसला करने और अधिकारियों की नियुक्ति करने के लिए ग्राम परिषद् की बैठक होती है तो प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह उसमें भाग ले। पूरे गांव की भलाई के लिए जो सामूहिक पूजा होती है उस के लिए प्रत्येक ग्रामवासी को आर्थिक सहायता देनी होती है। जब राज्य के बड़े अधिकारी गांव का दौरा करने के लिए आते हैं तो प्रत्येक गांव वाले को अपने हिस्से के अनुसार उनके आतिथ्य के लिए चावल की शराब जुटानी पड़ती है।

धार्मिक त्योहारों के अवसर पर गांव में काम की छुट्टी रहती है। आवश्यकता पड़ने पर प्रत्येक ग्रामवासी को गांव की सड़क साफ करनी पड़ती है। इन आदिमजातियों को पड़ोसी गांवों के आक्रमणों से अपने गांव की रक्षा करने के लिए युद्ध करना पड़ता है। गांव वालों को इसी प्रकार के बहुत से अन्य कर्त्तव्य भी निवाहने पड़ते हैं।

गांव का निवासी होने के नाते गांव के आदिवासी को कुछ विशेषाधिकार भी मिलते हैं जैसे खेती करने के लिए जंगल की भूमि को उपयोग में लाना, पास के जंगलों से जो गांव के अधिकार में होते हैं, ईंधन और इमारतें बनाने का सामान एकत्र करना और गांव के सामाजिक-धार्मिक उत्सवों में स्वतन्त्रतापूर्वक भाग लेना।

इस प्रकार गांव और उसके निवासियों की एक क्रियाशील सामाजिक इकाई बनती है जो सुरक्षा-साधनों को संगठित करती है, झगड़ों का फैसला करती है और सम्पत्ति आदि के अधिकारों का निश्चय करती है। किसी उन्नत समाज में गांव से

अतिरिक्त, स्थान पर ही आधारित कुछ अन्य बड़े सामाजिक वर्ग होते हैं जैसे तहसील, जिला, राज्य और साम्राज्य आदि । इन सभी वर्गों का सदस्य होने के कारण व्यक्ति को कुछ विशेषाधिकार मिलते हैं और उसे उत्तरदायित्व भी निभाने होते हैं।

यौन सम्बन्धों पर आधारित सामाजिक इकाइयां साक्षरता-पूर्वक और उन्नत दोनों ही प्रकार के समाजों में पाई जाती हैं । तेरमान और माइल्स ने विभिन्न आयु तथा स्तरों के सैंकड़ों अमेरिकी स्त्री-पुरुषों पर परीक्षण करके यह पता लगाने का प्रयास किया है कि स्त्री और पुरुषों में कितना अन्तर है । स्त्री और पुरुष, दोनों की रुचियों में भेद होता है जैसे स्त्री सदैव घरेलू, कलात्मक, अलंकरणात्मक और प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य पसन्द करती है, जबकि पुरुष वीरोचित, शारीरिक बल और परिश्रम सम्बन्धी कार्य पसन्द करता है। दोनों की शरीर रचना में भेद होने के कारण उनकी रुचियों में भेद होना अनिवार्य है और इसी कारण विभिन्न वर्गों की स्थापना होती है । भारत की आदिमजातियों में स्त्री-पुरुषों की संयुक्त संस्थाओं का साधारणतया प्रचलन नहीं है । इसका उदाहरण हमें ओरांव और नागा जातियों के कुमार-गृह जैसे संगठनों में मिलता है । कुछ आदिमजातियों में हमें इसी प्रकार की कुमारी-संस्थाएं भी मिलती हैं परन्तु ये कुमार-गृहों की पूरी नकल नहीं होतीं । इन संस्थाओं का जीवन औपचारिक ही होता है तथा इनमें प्रवेश और निगर्मन अनेक नियमों से नियन्त्रित होते हैं । ओरांव लोगों में अविवाहितों के लिए एक अलग घर बना हुआ होता है जहां वे रात बिताते हैं । उत्सवों के अवसरों पर किए जाने वाले शिकारों में वे संयुक्तरूप से भाग लेते हैं, विवाह तथा अन्य अवसरों पर गांव वालों की सहायंता करते हैं और कुमार-गृहों में ठहरने वाले अतिथियों के आतिथ्य की व्यवस्था करते हैं। गांव की वयस्क कुवांरी लड़कियां भी पेल-अर्पा नामक अलग बने हुए घरों में रात बिताती हैं जिसके संगठन के लिए उन्हीं में से एक नेत्रि चुन ली जाती है। विवाह तथा अन्य सामाजिक कार्यों में उन्हें भी गांव वालों की सहायता करनी पड़ती है ।

पराधीन होने के पूर्व अओ नागाओं में अविवाहित युवक गांव को आकस्मिक आक्रमणों से बचाने के लिए सदैव तत्पर रहा करते थे । उन्होंने गांव में एक स्थायी सेना बना ली थी और आक्रमण होने पर प्रौढ़ लोगों के आने के पूर्व ही मैदान में उतर पड़ते थे । अपने इस कर्त्तव्य को वे ठीक से निभा सकें, इसलिए यह प्रथा थी कि वे अस्त्र-शस्त्र से लैस होकर सोएं । यद्यपि समय बदल गया है और इन गांवों पर आक्रमणों का कोई भय नहीं है परन्तु फिर भी अओ युवक रात-दिन गांव की सीमा पर निगरानी रखते हैं और सशस्त्र सोते हैं ।

संसार के अन्य भागों में लिंग-वर्ग अधिक संख्या में पाए जाते हैं । आस्ट्रेलिया के आदिवासी रजोदर्शन के संस्कारों के समय स्त्री और पुरुषों

को अलग कर देते हैं। स्त्रियों को नियन्त्रण में रखने के लिए वहां उन्होंने कुछ गुप्त संस्थाएं बना रखी हैं। मलानीशिया के बैंक्स द्वीपसमूह में एक निश्चित अवस्था के बाद सब पुरुष अपने स्त्री और बच्चों को छोड़कर एक अलग घर में रहते हैं। इनमें से कुछ द्वीपों में तो वे खाना भी घर पर नहीं खाते। इसके विपरीत उन्नत समाजों में स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा के लिए स्त्रियों की संस्थाएं अधिक संख्या में बन गई हैं। जो कुछ हम ऊपर कह चुके हैं उसके बावजूद संस्थाओं अथवा वर्गों का निर्माण वास्तव में केवल लिंग भेद, इस शब्द के उस अर्थ में जो हम समझते हैं, के आधार पर नहीं हुआ है, बल्कि अन्य शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक कारणों से हुआ है।

सामाजिक इकाइयों के निर्माण में आयु का भी बहुत बड़ा हाथ रहता है। समान आयु के व्यक्तियों में कुछ एक-सी शारीरिक और मानसिक विशेषताएं होती हैं जो उनसे काफी छोटे या बड़े लोगों की विशेषताओं से भिन्न होती हैं। प्रत्येक संस्कृति में आयु-भेद का विचार किया जाता है और इसी आधार पर विधिवत या अनौपचारिक ढंग से वर्ग बनाए जाते हैं। इन वर्गों के नाम समयानुसार बदलते रहे हैं। एक आयु-वर्ग से दूसरे आयु-वर्ग में प्रविष्ट होने के अवसर पर प्रायः संस्कार सम्पन्न किए जाते हैं जिसको वान जेनप ने 'प्रवेश संस्कार' कहा है।

बहुत-सी साक्षरता-पूर्व की आदिमजातियों में बालकों, कुमारों और विवाहित पुरुषों के बीच का बुनियादी अन्तर विधिवत स्वीकार किया गया है जैसे रांची की ओरांव जाति में। आदिवासियों में आयु के आधार पर बनाए गए मध्यवर्ती वर्ग भी पाए जाते हैं। अन्दमानवासियों में २३ आयु-वर्ग हैं जिनके नाम भी अलग-अलग हैं। असम के अओ नागाओं में सात आयु-वर्ग हैं जिनके अलग-अलग नाम हैं और गांव के संगठन में उनके निश्चित कर्त्तव्य और विशेषाधिकार हैं। प्रत्येक तीन वर्षों के बाद बारह से चौदह वर्ष की आयु वाले लड़कों का एक नया वर्ग 'मोरुंग' (कुमार-गृह) में प्रवेश करता है। ये वर्ग 'नोज़बरीहोरी' (अपरिपक्व दल) कहलाते हैं। इनको 'मोरुंग' में सोना पड़ता है और बड़े लड़कों के लिए नौकरों के समान काम करना पड़ता है। तीन वर्ष के बाद इनके स्थान पर नये लड़के आ जाते हैं और ये 'तुकपवहोरी' (परिपक्व दल) बन जाते हैं। अब ये लोग नवागंतुक लड़कों से उसी प्रकार परिश्रम कराते हैं जैसा स्वयं इन्होंने किया था। अब ये 'मोरुंग' में सोने के लिए बाध्य नहीं हैं और तीन वर्ष की अवधि के अन्त में विवाह भी कर सकते हैं। इनका कर्त्तव्य एक स्थान से दूसरे स्थान को सन्देश ले जाना और गांव के लिए सामान्य कार्य करना होता है। इसके तीन वर्ष पूरे होने के बाद ये 'चूचेनवहोरी' (मोरुंग नेता-दल) बन जाते हैं। अब ये मोरुंग के नेता हैं और प्राचीन काल में इस स्थिति में ये नरमुण्डों के शिकार के लिए जाया करते थे। इसके तीन वर्ष बाद ये

'ओकचगशमीचरीबोरी' (सुअर की टांग खाने वाले) बन जाते हैं और इन्हें 'मोरुंग' की दावत के लिए मारे गए सुअरों की टांग खाने को दी जाती है। किन्तु इस अवधि में भी इनके कर्त्तव्य पूर्ववत ही रहते हैं। अगले तीन वर्षों तक ये 'किदोंग मबग' (जाति-नेता) कहलाते हैं। तब ये गांव के सम्माननीय व्यक्ति समझे जाते हैं और इनका 'मोरुंग' से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसके बाद ये अगले तीन वर्षो तक 'खोनरी' (बोझ ढोने वाले) कहलाते हैं। इस समय इनका काम बलि के लिए बोझा ढोने वाले मज़दूरों का प्रबन्ध करना होता है और पार्षद के भाग के मांस में से कुछ भाग इन्हें भी मिल जाता है। इस अवधि के पश्चात् अगले तीन वर्षो तक ये 'त तारी' (पार्षद) कहलाते हैं और वृद्ध लोगों के परामर्श से गांव का प्रबन्ध करते हैं। इस समय इन्हें मांस का सबसे बड़ा भाग मिलता है और ये सामूहिक रूप से गांव का प्रशासन चलाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक अओ-नागा पुरुष धीरे-धीरे स्वत: गांव के सर्वोच्च वर्ग का सदस्य बन जाता है। इसके बाद ये तीन वर्षो के लिए 'माओज़म्वा तेलकवा' (सहायक पार्षद) बनते हैं और इन्हें पार्षद के भाग के मांस में से थोड़ा-सा भाग दिया जाता है। इसके बाद ये 'माओज़म्वा तेमम्वा' कहलाते हैं और इनमें से कुछ 'पातिर' (पुरोहित) बन जाते हैं। अओ-नागा अपना शेष जीवन इसी वर्ग में रहकर बिताते हैं। अओ लोगों का यह आयु-वर्गीकरण अब पूर्ण रूप से विकसित प्रतीत होता है।

रांची जिले के ओरांव लोगों में भी कुमारों के तीन वर्ग हैं। इन में से पहला पुना जोखार अर्थात् नवागन्तुक, दूसरा मझतुरिया जोखार अर्थात् मध्यवर्ती वर्ग और तीसरा कोहा जोखार अर्थात् अधिकतम आयु के कुमार कहलाता है। प्रथम दो वर्गों के सदस्यों को उनमें तीन-तीन वर्ष रहना पड़ता है। तीसरे वर्ग में वे तब तक रहते हैं जब तक विवाह करके अपना घर नहीं बसा लेते। यहां भी प्रत्येक वर्ग के निश्चित कर्त्तव्य और अधिकार हैं। भारत की अन्य आदिमजातियों में भी इसी प्रकार का वर्गीकरण है। इन सभी आयु-वर्गो में वर्ग-भावना स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। इनका प्रत्येक सदस्य वर्ग-सम्मान, वर्ग-कर्त्तव्य और वर्ग-जीवन के प्रति सचेष्ट रहता है।

रक्त, स्थान, लिंग भेद और आयु के आधार पर बने इन वर्गों के अतिरिक्त कुछ वर्ग ऐसे भी हैं जिनके आधार शिक्षा, मनोरंजन, आर्थिक कार्य, धर्म और जादू हैं। स्थानाभाव के कारण यद्यपि हम उन सब पर अधिक प्रकाश नहीं डाल सकते पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी समाज के सुव्यवस्थित संचालन में इनका महत्व कम नहीं है। यहां अब हम यह देखेंगे कि किसी भी व्यक्ति का जीवन विभिन्न प्रकार के इन सामाजिक वर्गों का सदस्य बनने से किस प्रकार नियन्त्रित होता है।

व्यक्ति रक्त और स्थान के आधार पर बने बहुत से वर्गों का एक साथ ही सदस्य होता है। वह एक साथ ही किसी लिंग-वर्ग और आयु-वर्ग का सदस्य हो सकता है। यही नहीं, वह बहुत से शैक्षणिक, धार्मिक, मनोरंजनात्मक और आर्थिक वर्गों का सदस्य भी होता है। मनुष्यों का बनाया हुआ यह सामाजिक संगठन अब इतना विकसित हो चुका है कि सामान्यतः किसी भी व्यक्ति को इन सभी वर्गों के प्रति अपने उत्तरदायित्व निभाने में कठिनाई नहीं होती। कहीं कोई संघर्ष नहीं होता और व्यक्ति अपना जीवन प्रसन्नतापूर्वक और आराम से बिता सकता है। परन्तु जब व्यक्ति के सामने परस्पर विरोधी सामाजिक-मनोवैज्ञानिक समस्याएं उपस्थित होती हैं तो जीवन असन्तुलित हो जाता है और वैयक्तिक तथा वर्ग-जीवन दुखमय हो जाता है। आजकल आदिवासियों के सम्मुख ऐसी ही स्थिति है जिसमें दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं का द्वन्द्व हो रहा है।

सामाजिक प्रथाएं

सामाजिक प्रथाओं में विवाह का स्थान सबसे प्रमुख है। कोल्हन के 'हो' लोगों को छोड़कर लगभग सभी आदिमजातियों में विवाह की प्रथा प्रचलित है। 'हो' लड़कियों के पिताओं के अतिशय लालच और परिवार के सम्मान की ऊंची भावना के अनुरूप अपनी लड़कियों के विवाह में बहुत अधिक धन मांगने के कारण कोल्हन गांवों में साठ-सत्तर वर्ष की स्त्रियों का अविवाहित रहना साधारण बात है। वहां की वयस्क कुमारियों ने लेखक के साथ बड़े-बूढ़ों की आलोचना करने में कोई संकोच नहीं किया। यह स्थिति इस शताब्दी के प्रथम दो दशकों में और भी शोचनीय हो गई। परिणाम यह हुआ कि वहां के लड़कों और लड़कियों दोनों ने इस समस्या का समाधान अपने हाथ में ले लिया और उन्होंने अपहरण द्वारा विवाह करने की परम्परागत प्रथा से लाभ उठाया। नवयुवकों और नवयुवतियों ने अपने माता-पिताओं को बताये बिना ही अपनी शादियां करना आरम्भ कर दिया और वधू को बन्दी बनाने का स्वांग रचा जाने लगा। ऐसे अवसरों पर भी वधू का पिता और भी अधिक धन की मांग करता परन्तु मिलने की आशा से नहीं। अब 'हो' समाज में इस प्रकार स्वयं जीवन साथी चुनने की प्रथा सामान्य रीति बन गई है। जिस असन्तुलन के कारण पहले अविवाहित लड़कों और लड़कियों की संख्या बढ़ गई थी, वह अब दूर हो गया है।

युवक और युवतियों के विवाह की आयु के बारे में भारत के आदिवासियों के विचार उनके सभ्य पड़ोसियों की तुलना में कहीं आगे हैं। आदिवासियों में वयस्क हो जाने पर ही विवाह होता है। इसका अपवाद केवल वहीं पाया जाता है जहां हिन्दू संस्कृति का प्रभाव पड़ा है। छोटा नागपुर में रहने वाले अधिक समृद्ध

सन्थाल, मुण्डा और ओरांव परिवार हिन्दुओं के घनिष्ठ सम्पर्क में आ चुके हैं। इन लोगों में नौ या दस साल की लड़की और १२ या १३ साल के लड़के का विवाह हो जाता है। परन्तु असम की नागा और कूकी जातियों की लड़कियां १५ से २० वर्ष की आयु में और लड़के १८ से २५ वर्ष की आयु में विवाह करते हैं। सामान्यत: आदिवासियों में वर वधू से बड़ा होता है परन्तु असम की कुछ जातियों में वधू वर से बड़ी होती है जैसे असम के पुरम कूकियों में।

भारत के आदिवासियों में वैवाहिक जीवन के बाहर भी काफी हद तक काम वासना की तुष्टि की जा सकती है। अधिकांश आदिमजातियों में विवाह के पूर्व यौन विषयक पवित्रता बनाए रखने पर बहुत जोर नहीं दिया जाता। उदाहरण के लिए डाक्टर एलविन के अनुसार बस्तर जिले के मुरिया गोण्ड लोगों में गांव के अविवाहित स्त्री और पुरुष एक ही घर में रात बिताते हैं जहां ये अपनी इच्छानुकूल साथी चुन लेते हैं। ये साथी कभी-कभी या नियमित रूप से बदल लिए जाते हैं और यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक ये विवाह करके इस संस्था को छोड़ नहीं देते। 'घोटुल' में रहने वाले स्त्री-पुरुषों में परस्पर विवाह बहुत कम होते हैं।[1] ५० वर्ष पूर्व प्रत्येक अविवाहित ओरांव की 'कुमारी आवास' में कोई न कोई प्रेमिका होती थी। यदि कोई लड़की किसी का प्रेम अस्वीकार कर देती थी तो बड़ी लड़कियां उससे सम्बन्ध तोड़ लेतीं थीं और उसके साथ तब तक नहीं नाचती थीं जब तक वह भी कोई प्रेमी न चुन लेती थी। ये 'कुमार गृह' अब लुप्तप्राय हो गए हैं, इसलिए उनकी वर्तमान स्थिति के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।[2] नागा जातियों में भी विवाह के पूर्व इस प्रकार की छूट पाई जाती है जैसे 'अओ' नागाओं में।[3] भारतीय आदिमजातियों में विवाह के बाद भी इस प्रकार की स्वतन्त्रता रहती है। कुछ महत्वपूर्ण अवसरों पर जैसे माघे परब पर हो और खाद्दी तथा ओरांव जाति के स्त्री-पुरुष स्वच्छन्दतापूर्वक यौन सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि कम से कम भारत की कुछ आदिमजातियों में वैवाहिक जीवन के अतिरिक्त भी काम वासना तुष्ट करने की स्वच्छन्दता है यद्यपि उनमें विवाह की प्रथा भी प्रचलित है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि विवाह का मुख्य उद्देश्य मैथुन ही नहीं है। मालूम होता है कि आदिमजातियों में विवाह का आधार आर्थिक सहयोग है जैसा कि पति-पत्नी के बीच श्रम-विभाजन के रूप में पाया जाता है। हम यह नहीं कहते कि पारस्परिक प्रेम

---

१. एलविन—'दि मुरियाज़ एण्ड दअर घोटुल', पृष्ठ ३३३

२. रायबहादुर एस० सी० राय—'दि ओरांव्स', पृष्ठ २४६ से २४७

३. मिल्स— 'अओ नागाज़', पृष्ठ २१२

और सन्तानोत्पत्ति विवाह के उद्देश्य नहीं हैं परन्तु इनका यहां पर अधिक महत्व नहीं है।

आदिम समाज में भी अपना साथी चुनना एक महत्वपूर्ण मामला है। जाति में विवाह करने, जाति के बाहर विवाह करने, नीची जाति की स्त्री से विवाह की छूट, अपनी रुचि का साथी चुनने इन सब बातों के साथ-साथ होते हुए भी बहुत से अन्य प्रतिबन्धों के कारण जीवन-साथी का स्वतन्त्र चुनाव नहीं हो पाता। सन्थाल जाति में व्यक्ति के लिए अपनी ही जाति में विवाह करना आवश्यक है परन्तु सगोत्रियों से विवाह नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार यह अपने वंश और परिवार के लोगों के साथ भी विवाह नहीं कर सकता क्योंकि ऐसा करना सगोत्र-गमन कहलाएगा, जिसे ये घृणा की दृष्टि से देखते हैं। कभी-कभी इन जातियों में ममेरे-फुफेरे भाई-बहनों के विवाह के उदाहरण मिलते हैं। इसका सबसे उल्लेखनीय उदाहरण मणिपुर की पुरम-कूकी जाति में मिलता है जहां पुरुष केवल अपने मामा की लड़की से विवाह कर सकता है, बुआ की लड़की से भी नहीं। सन् १९३६ में यह पता चला कि इस जाति के ७५ प्रतिशत विवाह इसी प्रकार के थे।[1]

कभी-कभी कुछ आदिमजातियों में सम्पत्ति के लिए अनमेल विवाह हो जाते हैं। गारो जाति में दामाद को (नोकरोम) अपनी विधवा सास से पुनः विवाह करना पड़ता है क्योंकि पारिवारिक सम्पत्ति की मालिक वही होती है। ऐसा पुत्री (नोकना) का हित सुरक्षित रखने के लिए किया जाता है क्योंकि मां की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी उसकी पुत्री ही होती है। यदि विधवा मां किसी दूसरे व्यक्ति से विवाह कर ले तो हो सकता है कि वह उसे सम्पत्ति को नष्ट कर देने के लिए बहका दे और इस प्रकार उसकी लड़की 'नोकना' सम्पत्ति से वंचित रह जाए। ऐसी सम्भावना ही न रहे इसलिए दामाद पहले ही अपनी सास से विवाह कर लेता है। मध्य प्रदेश के गोण्ड लोगों में बाबा-दादी और पोती-पोतों में भी विवाह होने के समाचार मिले हैं। लुशाई पहाड़ियों के लाखेर लोगों में विधवा सौतेली मां के साथ और विधवा पुत्रवधू के साथ भी विवाह होने के उदाहरण मिलते हैं।[2]

आदिवासी जातियों में जीवन-साथी प्राप्त करने के तरीके विविध और अत्यन्त मनोरंजक हैं। भारत की आदिमजातियों में वधू को पाने के लिए सामान्यतः कुछ धन देना पड़ता है। यह धन राशि जाति की आर्थिक अवस्था के अनुरूप अधिक अथवा कम होती है। सन्थाल, हो, ओरांव, खड़िया, गोण्ड, नागा, कूकी

---

१. टी० सी० दास—'दि पुरम्स', पृष्ठ २४१
२. पैरी—'दि लाखेर्स', पृष्ठ २९४



पणियन माता और शिशु

नीलगिरि के टोडा लोग





आदिवासी विवाह-संस्कार

हैदराबाद के डन्डारी (गोण्ड) नर्तक



भील तथा कुछ अन्य जातियों में वधू के बदले धन देने की सामान्य रीति है। इसके अतिरिक्त इनके यहां कुछ अन्य तरीके भी प्रचलित हैं।

मणिपुर की पुरम जाति में वधू को पाने के लिए पहले वर को सेवा करनी पड़ती है। वर को अपने भावी श्वसुर के घर में तीन वर्ष तक नौकरी करनी पड़ती है। "इसे घर में वे सब काम करने पड़ते हैं जो घर के लड़के करते हैं।" इसके रहने और खाने का व्यय इसके ससुराल वाले उठाते हैं।[1] यह प्रथा रंगखोल, कूकी, अयमोल, अनल और चिरु लोगों में भी प्रचलित है।

छोटा नागरपुर की हो, सन्याल, मुण्डा, भूमिज तथा कुछ अन्य आदिम-जातियों में बल-पूर्वक विवाह करने की प्रथा भी प्रचलित है। सरायकेल्ला के भूमिज लोगों में लड़की के माता-पिता भी इस प्रकार का विवाह पसन्द करते हैं। जो विवाह सम्बन्ध माता-पिता द्वारा तय किए जाते हैं, उनमें भी लड़की का पिता वर से अनुरोध करता है कि वह अपनी पत्नी को बलपूर्वक ले जाए। उसका दिन और समय परस्पर निश्चित कर लिया जाता है। आरम्भ में लड़की कुछ विरोध प्रकट करती है परन्तु अन्त में स्वयं ही सहमत हो जाती है। इस प्रकार लड़की को बलपूर्वक विवाह कर ले जाने से लड़की के माता-पिता का सम्मान बढ़ता है।[2]

यदि कोई लड़का किसी लड़की से प्रेम करने लगता है परन्तु लड़की उसका प्रेम स्वीकार नहीं करती अथवा लड़की के माता-पिता उस विवाह-सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते, तब लड़का लड़की के माथे पर सिन्दूर लगाकर उन्हें सहमत होने के लिए विवश कर सकता है। सिन्दूर लगाना उनके यहां विवाह का चिन्ह समझा जाता है। इसके बाद लड़का गांव छोड़कर तब तक छिपा रहता है जब तक दोनों के माता-पिता मामला तय नहीं कर लेते। यह प्रथा छोटा नागपुर और उड़ीसा में रहने वाली संथाल, भूमिज, हो, मुण्डा और कुछ अन्य जातियों में प्रचलित है।

इन जातियों में प्रचलित एक दूसरी रीति यह है कि लड़की को भगा ले जाकर विवाह कर लिया जाए। जब कोई लड़का और लड़की एक-दूसरे से प्रेम करते हैं, परन्तु उनके माता-पिता विवाह की अनुमति नहीं देते, तब ये यही तरीका अपनाते हैं। दो-तीन महीने के बाद ये दोनों गांव लौट आते हैं और ये पति-पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिए जाते हैं।

सन्थाल और उनके सजातीय लोगों में अनधिकार प्रवेश द्वारा विवाह करने का भी एक विचित्र तरीका पाया जाता है। इसमें पहल लड़की करती है।

---

१. टी० सी० दास—'दि पुरम्स', पृ० २४२

२. टी० सी० दास—'दि भूमिजाज आफ़ सेरायकल्ला', पृष्ठ १२

जब किसी लड़के का किसी लड़की से घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है और लड़का प्रतिज्ञा करके भी लगातार विवाह टालता रहता है, तब लड़की एक दिन लड़के चुपचाप जाकर उसकी झोंपड़ी के एक कोने में बैठ जाती है। लड़के की मां इसे सब प्रकार से बाहर निकालने की कोशिश करती है, मगर मारती-पीटती नहीं। यदि लड़की वहीं डटी रहती है तो वह जीत जाती है। गांव के अधिकारी और पड़ोसी वहां जमा हो जाते हैं और लड़के को उससे विधिवत विवाह करने के लिए विवश किया जाता है। भाई की विधवा पत्नी अथवा अपनी पत्नी की विधवा बहन के साथ विवाह करने के दो अन्य तरीके और भी प्रचलित हैं। इनमें पहला तरीका बहुत अधिक प्रचलित है और दूसरा बहुत कम।

भारत की इन आदिवासी जातियों में हमें विवाह के तीनों ही रूप—एक-पत्नी प्रथा, बहु-पति प्रथा और बहु-पत्नी प्रथा—देखने को मिलते हैं। सामान्यतः सबसे अधिक चलन एक विवाह का ही है। परन्तु यह भारत की किसी भी आदिमजाति के लिए बन्धन रूप में नहीं है। स्त्री और पुरुष की संख्या का अनुपात १:१ है, १:२ भी नहीं। इस प्रकार प्रकृति ही द्वि-विवाह का विरोध करती है, परन्तु मनुष्य ने बहुत से कृत्रिम उपायों से उस प्राकृतिक सन्तुलन को बिगाड़ दिया है। उदाहरण के लिए नीलगिरि पहाड़ियों में रहने वाले टोडा लोगों द्वारा बचपन में ही लड़कियों की हत्या कर दिए जाने से प्राकृतिक सन्तुलन बिगड़ गया और परिणाम यह हुआ कि एक स्त्री के एक समय में ही कई पति होने लगे। कई पीढ़ियों तक वहां सौ स्त्रियों के पीछे २५९, २०२ और १७१ पुरुष रहे। पुरुषों की आनुपातिक संख्या में धीरे-धीरे कमी होने का कारण यह था कि अंग्रेज शासकों ने लड़कियों की बाल-हत्या का निषेध कर दिया था। लेकिन स्त्रियों की संख्या बढ़ जाने पर व्यक्तिगत विवाहों के स्थान पर ऐसे विवाह होने लगे जिन्हें सामाजिक मानव विज्ञान में सामूहिक विवाह कहा जाता है। टोडा लोगों की भ्रात्रीय बहु-पति-प्रथा के अनुसार परिवार का प्रत्येक भाई अलग-अलग लड़कियों से विवाह कर लेता है लेकिन कोई भी भाई उन पर केवल अपना स्वामित्व नहीं जताता। इस प्रकार अलग-अलग ब्याही गई लड़कियां सभी भाइयों की पत्नियां कहलाती हैं। जौनसार बावर में बहु-पति प्रथा का कारण दरिद्रता समझा जाता है क्योंकि इनकी यह इच्छा रहती है कि सभी भाइयों की पत्नी एक होने से पारिवारिक सम्पत्ति का बटवारा न हो।

आदिमजातियों में यद्यपि बहु-पत्नी प्रथा बहुत अधिक प्रचलित है, परन्तु सभी लोग इसका अनुगमन नहीं करते। इनकी आर्थिक अवस्था इनको ऐसा करने से रोक देती है। उत्तर असम में इनके सरदार लोगों की प्रायः बहुत-सी पत्नियां होती हैं परन्तु साधारण लोग एक ही विवाह से सन्तुष्ट रहते हैं। ऐसा प्रतीत

होता है कि भारत के आदिवासियों में बहु-पत्नी प्रथा का एक बहुत बड़ा कारण आर्थिक है। पत्नी बिना कुछ दिए काम लेने का एक साधन समझी जाती है। सन्तान की इच्छा, पिता अथवा बड़े भाई से उत्तराधिकार में एक या एक से अधिक पत्नियाँ मिलना, समाज में सम्मान मिलने की कामना और कभी-कभी विषयासक्ति की प्रबलता बहु-पत्नी प्रथा के अन्य कारण हैं चाहे ये उतने महत्वपूर्ण कारण न माने जाएं।

प्रत्येक आदिमजाति में विवाह के अवसर पर बहुत-सी रीतियां पूरी की जाती हैं जिनसे विवाह को सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है। नृत्य, दावतें तथा संगीत—मौखिक और वाद्य—विवाह की पुष्टि और प्रचार के साधन हो जाते हैं। इन में से कुछ रीतियां दो व्यक्तियों के संयोग की प्रतीक हैं जैसे गांठ जोड़ना, उनके हाथ अथवा शरीर को बांधना और उनके रक्त को मिलाना। इनमें से एक या दो रीतियों का विधान भारत की सभी आदिमजातियों में है।

विवाह के बाद विवाहित दम्पति के निवास स्थान का समाज में विशेष महत्व है। सामान्यतः वधू अपने श्वसुर के घर में रहती है। यहां वधू की बहुत-कुछ स्वतन्त्रता छिन जाती है और वह पति के सम्बन्धियों के बीच परदेसी के समान रहती है। घर के मुख्य मामलों में उसकी कोई राय नहीं ली जाती है। भारत की अधिकांश आदिमजातियों में वधू की अपने श्वसुर के घर रहने की प्रथा प्रचलित है। असम की खासी आदि जैसी कुछ जातियों में पति पत्नी की मां के घर जाकर रहता है। यहां पति की स्वतन्त्रता काफी सीमा तक छिन जाती है और वह केवल धनोपार्जन तथा संतानोत्पत्ति का साधन मात्र रह जाता है। सास के घर निवास से पति का व्यक्तित्व दब जाता है।

विवाह के बाद निवास का एक तीसरा ढंग यह भी है कि नव विवाहित दम्पति किसी भी पक्ष के माता-पिता के घर न रहकर एक नये स्थान पर और अपने सम्बन्धियों के प्रभाव से अलग रहते हैं। भारत की आदिमजातियों में इस प्रकार की प्रथा यदा-कदा ही मिलेगी। निवास का सबसे विचित्र तरीका जैन्तिया पहाड़ियों की सिण्टेंग जाति में मिलता है, जहां पति और पत्नी साथ रहकर पारिवारिक जीवन नहीं बिताते – दोनों अपने-अपने परिवारों में ही रहते हैं। पति अपनी पत्नी के पास केवल रात को जाता है और उसके तथा उसके बच्चों के पालन-पोषण का उस पर कोई उत्तरदायित्व नहीं होता। यह दायित्व स्त्री के भाई का होता है। इसके अतिरिक्त पति-पत्नी के निवास के कुछ अन्य तरीके और भी हैं जिनका यहां उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है।

तलाक, पुनर्विवाह और वैधव्य, ये सब वैवाहिक प्रथा के ही अंग हैं। भारत के आदिवासियों में तलाक देने की प्रथा बहुत ही सामान्य है। खासी लोगों में

ऐसे प्रौढ़ व्यक्ति बहुत कम होंगे जिन्होंने एक या दो बार अपने जीवन-साथी न बदले हों। अधिकांश मामलों में तलाक के अवसर पर कुछ रस्में पूरी करनी पड़ती हैं। सन्थालों में 'साकम-अरच' अर्थात् पत्ता चीरने की एक प्रथा है जो उन्हें पूरे गांव के सामने करनी पड़ती है। पति और पत्नी दोनों साल के तीन-तीन पत्ते चीरते हैं और सिंह बोंगा (सूर्य देवता) का आह्वान करते हुए पानी से भरे हुए एक पीतल के घड़े को उल्टा कर देते हैं। रांची के ओरांव लोगों में एक बहुत अच्छी प्रथा है जिसके अनुसार कोई भी विधुर किसी कुमारी से विवाह नहीं कर सकता, उसे या तो किसी विधवा स्त्री से अथवा ऐसी स्त्री से विवाह करना पड़ता है जिसे तलाक दिया जा चुका है। परन्तु मनुष्य ने अपनी चतुराई से इस प्रथा से बच निकलने का भी मार्ग ढूंढ लिया है। कुमारी कन्या का विवाह पहले किसी वृक्ष के साथ करके तब किसी व्यक्ति के साथ कर दिया जाता है।

इस प्रकार सामाजिक संस्था के रूप में विवाह का सामूहिक जीवन और व्यक्तिगत जीवन, दोनों पर ही घनिष्ठ प्रभाव पड़ता है। इसके कारण उनका जीवन पग-पग पर नियन्त्रित होता रहता है। व्यक्ति का सुख और उसकी मानसिक शान्ति इस दायित्व के सुचारु निर्वाह पर आधारित होती हैं। सम्पत्ति, कानून, शिक्षा और धर्म आदि अन्य सामाजिक संस्थाओं का प्रभाव भी व्यक्ति के जीवन पर इसी प्रकार पड़ता है। इन सब बातों क तालमेल के आधार पर ही पूर्वोक्त वर्गों एवं प्रथाओं का सुचारु रूप से निर्वाह हो सकता है।

भारत के आदिवासियों का जीवन कुछ दशक पूर्व तक पूर्ण रूप से सन्तुलित और सुखमय था। परन्तु अब ऐसा नहीं कहा जा सकता। आधुनिक संस्कृति के प्रभाव से इनमें नवीन विचारों का आविर्भाव हुआ है। पहले इनका जीवन सादा और सरल था और इनकी आवश्यकताओं की पूर्ति स्थानीय वस्तुओं से हो जाती थी। परन्तु अब नवीन विचारों के साथ इनकी नई आवश्यकताएं बढ़ गई हैं। संचार-साधनों के विकास से यह प्रवृत्ति और भी सशक्त हो गई है और प्राचीन व्यवस्था के प्रति इनमें असन्तोष जाग उठा है। इन्हें नव जीवन का प्रकाश दिखाई दे रहा है जिसे ये शीघ्र से शीघ्र प्राप्त कर लेना चाहते हैं। गतिशील समाज-विज्ञान का यह एक महत्वपूर्ण प्रयोग है जिसका परिणाम क्या होगा, अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

आदिवासी अर्थ-व्यवस्था

निर्मल कुमार बोस

देश के १ करोड़ ९० लाख आदिवासियों में हमारी रुचि दिनोंदिन बढ़ती जा रही है, परन्तु इस अभिरुचि का रूप और इनकी जिन बातों में रुचि ली जा रही है ये सब इनके वर्तमान जीवन के एक ही पहलू पर प्रकाश डालते हैं। सत्य प्रायः नीरस होता है इसलिए अधिकांश व्यक्ति वास्तविक स्थिति की अपेक्षा उसके कल्पनारंजित मनोरम चित्र को ही पसन्द करते हैं।

सन् १९२८ में लेखक को मध्य उड़ीसा के एक अनुभव का स्मरण हो आया है जब बहुत प्रयत्न करने के बाद वह केवल एक ऐसी वृद्धा से मिल पाया था जो पुरानी प्रथा के अनुसार जंगल के पत्तों से ही अपने शरीर को ढके हुए थी, अन्यथा शेष सभी लोगों ने पण लोगों द्वारा बनाए हुए साधारण वस्त्र पहनने आरम्भ कर दिए थे। उसी गांव में एक दूसरी स्त्री और थी। उसने भी पत्तों के वस्त्र इसलिए पहने हुए थे कि वह बहुत गरीब थी। फिर भी उसने अपने शरीर के ऊपरी भाग को एक पुराने वस्त्र से ढक रखा था। १९४८ में एक प्रसिद्ध पत्रिका में उसी क्षेत्र की और उसी जाति की अनेक युवतियों के आकर्षक चित्र प्रकाशित हुए। ये नवयुवतियां पत्तों से तन ढके हुए थीं और उनके स्वस्थ शरीर के नग्न भागों पर धूप पड़ रही थी। स्पष्ट ही भारत के प्रगतिशील आर्थिक जीवन में आदिवासियों को उनके स्वाभाविक वेश में देख कर लेखक और उसके पाठकों को बड़ा आनन्द मिला होगा। परन्तु यह सब सत्य से उतना ही दूर है जितनी मिस मेओ की पुस्तक 'मदर इण्डिया'। यद्यपि मिस मेओ ने अपनी प्रत्येक बात के समर्थन में चित्र भी दिए थे।

हमें यह समझ लेना चाहिए कि भारत के आदिवासियों का जीवन न तो संगीत, नृत्य और आनन्द से ही ओतप्रोत है, और न ये सदा यही समझते हैं कि अधिक चतुर और शक्तिशाली लोगों ने इन्हें दबा रखा है। जब कभी इनमें यह भावना आती है तो वह हमारे लाखों-करोड़ों ग्रामवासियों की भावना से भिन्न नहीं होती जिनका जीवन अवहेलना और अज्ञान के गर्त में डूबा हुआ है और जो चतुर पड़ोसियों द्वारा शोषित होते आए हैं। हमारे आदिवासियों की भाषाएं अन्य भारतीयों से भिन्न हैं, केवल इसीलिए आदिवासियों के प्रति हमें, उन लोगों की अपेक्षा जिन्हें

हम उनके ही भाग्य पर छोड़ देते हैं, अधिक उदारता दिखाने की आवश्यकता नहीं है।

आरम्भ में यह निराशापूर्ण पहलू सामने रखने का उद्देश्य यह है कि हम कहीं भावना में बहकर आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था का मूल्यांकन करते समय सत्य की उपेक्षा न कर बैठें।

जब हम इन आदिवासियों की जो एक विभिन्न भाषा बोलते हैं और हमारी ही मातृभूमि के जंगलों और पहाड़ियों में रहते हैं, अर्थ-व्यवस्था के बारे में सही जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं तो हमें स्वीकार करना पड़ता है कि इस सम्बन्ध में सही आंकड़े नहीं मिल पाए हैं और हमारा ज्ञान अपूर्ण है। हम इनके बारे में मोटी-मोटी बातें तो जानते हैं और कुछ विशिष्ट लोगों के बारे में विस्तार से भी जानते हैं, परन्तु जब देशभर के १ करोड़ ६० लाख आदिवासियों का प्रश्न आता है तो इन तथ्यों को सब के लिए लागू करना बहुत कठिन है। इनकी अपेक्षा हम भारत की ग्रामीण या नागरिक जनता के बारे में ऐसी बात सरलता से कह सकते हैं जो सब पर लागू होती हो क्योंकि उनके विषय में बहुत से आर्थिक सर्वेक्षण द्वारा हमें बहुत कुछ मालूम हो चुका है।

एक मोटी रूप-रेखा खींचने के लिए अब हम साधारण बातों को छोड़कर कुछ गम्भीर बातों पर विचार करेंगे। असम के खासी और छोटा-नागपुर के ओरांव तथा मुण्डा लोगों में से बहुत-से लोग धर्म-परिवर्तन कर ईसाई हो गए हैं। इस प्रकार धर्म-परिवर्तन कर जब कोई व्यक्ति जातिभेद की परम्पराओं से मुक्त हो जाता है तो उसे इच्छानुसार कोई भी व्यवसाय स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं रह जाती बशर्ते उसे ऐसा अवसर प्राप्त हो जाए। जिन लोगों ने धर्म-परिवर्तन किया है, उनमें से बहुत-से भारत के श्रेष्ठ नागरिक सिद्ध हुए हैं। इन लोगों ने अध्यापन, चिकित्सा और उपचारण आदि सभी प्रकार के व्यवसाय कर लिए हैं और उनके दूसरे गरीब साथी कृषक, बढ़ई और लुहार आदि बन गए हैं। जहां तक उच्च प्रशिक्षण से लाभान्वित होने अथवा उदाहरण का प्रश्न है, इसके अलावा ये लोग भारत के अन्य शिक्षकों, चिकित्सकों, उपचारिकाओं, किसानों अथवा कारीगरों आदि से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं हैं।

भारत के १ करोड़ ६० लाख आदिवासियों में ऐसे लोगों की संख्या अधिक नहीं है। इसके अतिरिक्त सबसे अधिक शोचनीय बात यह है कि धर्म-परिवर्तन करने वाले आदिवासी अधिकतर अपने साथियों से और कभी-कभी अपने देशवासियों से भी बिल्कुल अलग-थलग रहते हैं जो न तो स्वयं उनके और न देशवासियों के हित में है। आज के नवीन भारत में जब हम मातृभूमि के विकास के लिए दृढ़तापूर्वक मिलजुलकर काम करते जाएंगे तब यह अलगाव न रह जाएगा।

बहुत से आदिवासी बड़ी शीघ्रता से कृषि की ओर उन्मुख हो रहे हैं। ये पहले क्या थे और अब इनकी अवस्था कैसी है, इसका वर्णन आगे चलकर किया जाएगा, परन्तु जैसा हम पहले भी कह चुके हैं इनमें से अधिकांश, चाहे वे सन्थाल हों अथवा लेपचा, गोण्ड हों अथवा जुआं, शीघ्रता से कृषि-कार्य अपना रहे हैं और यथासमय ये भारत के उन कृषकों की भांति ही उन्नति कर लेंगे जो सदियों से जोतते-बोते आ रहे हैं।

अधिकांश आदिवासी चूंकि बाहरी प्रभाव से मुक्त स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करते हैं इसलिये उनमें किसी हद तक स्वाधीनता और अपनी परम्पराओं और प्रथाओं के प्रति गर्व की भावना रहती है। जिस तरीके से ये पहले उत्पादन करते थे उससे प्रति वर्ग मील भूमि के उत्पादन से बहुत कम लोगों का निर्वाह हो पाता था। इस सम्बन्ध में भारत में कभी आंकड़े तो एकत्र नहीं किए गए, परन्तु फिर भी सम्भावना इसी बात की है कि अन्दमानवासियों जैसे लोग, जिनके कुछ वर्ग जंगल से खाद्य पदार्थों को एकत्र करके और शिकार करके ही जीवन-निर्वाह करते थे, प्रति वर्ग मील के उत्पादन से दो या तीन प्राणियों से अधिक का पोषण नहीं कर पाते थे।

जंगल के कुछ भाग में वृक्ष आदि काट कर, वहां पर आग जलाकर और खोदने की लकड़ी की सहायता से जली हुई भूमि में बीज बोकर खेती करने से प्रति वर्ग मील भूमि के उत्पादन से २० से ३० व्यक्तियों तक का निर्वाह उस स्थिति में हो सकता है जब कि ये लोग जंगल से थोड़ा-बहुत कन्दमूल-फल आदि और शिकार से मांस भी प्राप्त कर सकें। परन्तु जैसा हम कह चुके हैं, हमारे आदिवासियों में प्रचलित विभिन्न विधियों की उत्पादन-क्षमता और उन लोगों की जनसंख्या की घनता के सम्बन्ध में, जो इनमें से किसी एक ही तरीके पर निर्भर रहकर जीवन-निर्वाह करते हैं और जीवन-यापन के लिए पूरक के रूप में जो अन्य व्यवसाय भी करते हैं, इस सब के बारे में विश्वस्त आंकड़े उपलब्ध नहीं हुए हैं।

जो कुछ भी हो, मैदान में भूमि के अभाव के कारण जंगलों में खेती करने वाले कृषकों के सम्पर्क में आने वाले आदिवासियों के सामने तीन मार्ग हैं जिनमें से एक न एक मार्ग तो इन्हें अपनाना ही पड़ता है। ये या तो इन किसानों पर आक्रमण कर उन्हें डराकर भगा दे सकते हैं अथवा यदि किसान अधिक शक्तिशाली हुए तो वे स्वयं और भी घने जंगलों में जाकर अपनी पूर्व जीवन-चर्या आरम्भ करने के लिए या तो स्वयं खेती करना आरम्भ कर सकते हैं अथवा फिर अपने अधिक समुन्नत पड़ोसियों की आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप कोई व्यवसाय आरम्भ कर सकते हैं। सम्भवतः यहां इसके कुछ उदाहरण दे देना अप्रासंगिक न होगा।

छोटा नागपुर तथा उड़ीसा के बिरहोर अथवा मकरखिया कुल्हा लोग पूर्वकाल में अपने शेष मुण्डा-भाषी पड़ोसियों के ही समान थे। परन्तु कृषक

पड़ोसियों के सम्पर्क में आने के बाद से ये जंगल की कुछ विशेष लताओं से बड़ी सुन्दर रस्सियां बनाने लगे हैं और अधिक भ्रमणशील हो गए हैं। उनके कृषक पड़ोसियों में से कुछ मुण्डारी बोलियां बोलते हैं और कुछ उड़िया अथवा हिन्दी, परन्तु ये सभी बिरहोर लोगों की बनाई हुई रस्सियां खूब काम में लाते हैं। बिरहोर लोगों का रस्सी बनाने में विशेष कुशलता प्राप्त करना और अधिक घूमने की ओर प्रवृत्त होना आर्थिक रूप से अधिक समुन्नत पड़ोसियों के सम्पर्क में आने का ही परिणाम प्रतीत होता है। इससे इन्हें अपनी प्राचीन परम्परा और संस्कृति के अनुरूप जीवन की गति बनाए रखने में सहायता मिली है।

जो भी हो, इस प्रकार के आर्थिक और फलस्वरूप सांस्कृतिक परिवर्तनों को स्वीकार करने वालों की संख्या बहुत अधिक नहीं है। छोटा नागपुर के जिन बिरहोर और खड़िया लोगों ने वन-सम्पदा से लाभ उठाने के विशिष्ट तरीके अपनाए हैं और अपनी चीजों के बदले अपने समुन्नत पड़ोसियों से रुपया लेकर उससे कपड़ा, नमक, लोहा आदि जैसी अपनी आवश्यकता की वस्तुएं खरीदना सीखा है, उनकी संख्या कुल आदिवासियों में बहुत कम है। बहुत से बिरहोर, खड़िया, हो, मुण्डा, सन्थाल और भूमिज आदि लोग पूर्ण रूप से खेतिहर हो गए हैं और ये अपने निकटवर्ती महतो, कुर्मी अथवा अन्य खेतिहर लोगों से भिन्न नहीं हैं।

सम्भवतः इन दोनों में एक अन्तर भी है। इस का कारण यह है कि कुर्मी आदि प्राचीन खेतिहर जातियों की भांति ये लोग कार्य-कुशल और अध्यवसायी नहीं हैं और ये आदिवासी लोग अपने अधिक उन्नत पड़ोसियों की अपेक्षा सीधे सरल और सहज ही विश्वास कर लेने वाले व्यक्ति हैं। अगली पंक्तियों में हम यह बताएंगे कि जिन क्षेत्रों में आदिवासी लोग खेती करने लगते हैं उनकी भूमि का अपहरण किस प्रकार किया जाता है। जब किसी जंगल अथवा अनुर्वर भूमि को पहली बार खेती के उपयुक्त बनाना पड़ता है और इस सिलसिले में सांप और शेरों का सामना करना पड़ता है तो वे भूमि के मालिक बड़ी प्रसन्नतापूर्वक आदिवासियों का स्वागत करते हैं। इनसे कहा जाता है कि ये इच्छानुसार भूमि लेकर उसे साफ कर सकते हैं और पहले १०–२० वर्ष तक इनसे कोई लगान नहीं लिया जाएगा; इसलिए ये उन कृषकों की अपेक्षा जो कई पीढ़ियों से एक ही स्थान पर खेती करते हैं, स्वतः अधिक लगनपूर्वक परिश्रम करते हैं। कुछ समय के बाद जब आदिवासियों को धन की आवश्यकता पड़ती है तो वह ज़मीन्दार अथवा महाजन से ऋण ले लेते हैं। व्याज की दर इतनी अधिक होती है कि प्रत्येक वर्ष व्याज चुकाते रहने पर और कभी-कभी तो व्याज के रूप में मूल का तिगुना धन दे देने पर भी मूल ज्यों का त्यों बना रहता है। जिस भूमि को ये अपने पसीने से सींच-सींच कर हरी भरी बनाते हैं,

एक दिन उसी को बेचकर इन्हें अपनी जान छुड़ानी पड़ती है और इनकी वर्षों की साधना निरर्थक हो जाती है। इस प्रकार ये गरीब किसान एक बार फिर मज़दूर बन जाते हैं जिनके पास अपने हाथ-पैर के परिश्रम के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रह जाता।

जिन लोगों को आदिवासियों के प्रति सहानुभूति है उन्होंने इनकी दुर्दशा देखकर आंसू बहाए हैं और ज़मीन्दारों तथा शोषकों के विरुद्ध आवाज़ें उठाई हैं। यह उतना ही न्यायसंगत है जितना संसार के किसी भी भाग के पद्दलितों के प्रति सहानुभूति दिखाना। भूमि के लिए तरसने वाले आदिवासियों से अपना काम कराने के बाद दूध की मक्खी की तरह उनको निकाल फेंकने जैसी दुखद घटनाएं आए दिन हुआ करती हैं। केनिया, दक्षिण अफ्रीका, और अभी बहुत दिन नहीं हुए जब संसार में अन्यत्र भी फिजी, डेमरारा और मारीशस में एक से एक अधिक कुत्सित घटनाएं हुई हैं। इसका प्रतिकार यह नहीं कि आप असहाय होकर अत्याचारियों से क्रुद्ध हो जाएं या शोषितों की ओर से लड़ाई शुरू कर दें या कोई कानून बनवा दें जिससे उनका आंशिक रूप में कष्ट दूर हो जाए, बल्कि आपको ऐसे उपाय करने हैं जिससे बिना किसी बाह्य सहायता के भी ये अत्याचारों से छुटकारा पा सकें। इसमें सफल होने के लिए गान्धी जी का अहिंसा का मार्ग सम्भवतः कुछ लाभदायक सिद्ध हो सके, परन्तु इस सम्बन्ध में अभी प्रयोग होने शेष हैं।

अभी तक हमने उन आदिवासियों के सम्बन्ध में विचार किया है जिनकी आर्थिक अवस्था पर अधिक समुन्नत पड़ोसियों का प्रभाव पड़ चुका है। इस प्रभाव के परिणामस्वरूप इनमें से कुछ खेती करने लगे हैं, कोई-कोई भू-स्वामी हो गए हैं और कुछ लोग बिरहोर अथवा खड़िया जातियों के लोगों के समान भ्रमणशील व्यवसायी बन गए हैं। भारत के सुदूर दक्षिण में कुछ लोग ऐसे हैं जो सरकारी जंगलों में मज़दूरी करते हैं और कुछ ऐसे भी ह जो पश्चिमी घाटों में लकड़ी से कोयला बनाने का काम करने लगे हैं।

भारत में इधर उधर फैले हुए आदिवासी भारतीय प्रायद्वीप में और विशेषकर इस विशाल देश के उत्तर-पूर्वी प्रदेशों में रहने वाले लोग अब भी खेती की प्राचीनतम पद्धतियों से ही चिपके हुए हैं। भारत के उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश में जहां भूमि और वर्षा, दोनों ही खेती के अनुकूल हैं, बहुत-सी मंगोली जातियों में कुल्हाड़ी से खेती करने की सामान्य प्रथा है। परन्तु ऐसे लोगों के सही आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं जो पूर्ण रूप से अथवा आंशिक रूप से इस प्रकार की खेती करते हैं।

भारत के मध्यवर्ती जंगली भागों में भुइया, जुआंग और सावरा आदि कुछ ऐसी जातियों के लोग हैं जो अब भी पूर्वोक्त प्रकार से कुल्हाड़ी से खेती करते हैं। आज सबसे अधिक आश्चर्यजनक बात यह है कि कुछ स्थानों पर विशेष रूप से

शिक्षा

के० पी० चट्टोपाध्याय

आज भारत गणराज्य के प्रायः सभी बुद्धिमान लोग यह मानते हैं कि देश के अन्य वर्गों की भांति पिछड़े हुए आदिवासियों को आर्थिक दृष्टि से उठाना और शिक्षित करना चाहिए और हमें इनके साथ एकरूप होकर श्रेष्ठतर संस्कृति और समृद्धि की दिशा में अग्रसर होना चाहिए। आदर्श का निश्चित स्वरूप हमारे सामने होना चाहिए क्योंकि यदि लक्ष्य सम्मुख हो तो उसकी सिद्धि का मार्ग स्पष्ट हो जाता है। ऐसा इसलिए और भी आवश्यक है कि कुछ मानव विज्ञानवेताओं और संस्थाओं का कहना है कि आदिवासियों को अलग ही रहने दिया जाए ताकि वे पुराने ढंग का जीवन बिता सकें।

पार्थक्य की यह भावना वास्तव में भारत में अंग्रेज शासकों ने पैदा की थी जिनकी नीति थी 'विभाजन करके शासन करो।' इसमें उन्हें अपने धार्मिक और कल्याण-संगठनों से भी सहायता मिली। अब राजनीतिक परिस्थितियां बदल चुकी हैं। अतएव इस प्रकार के राष्ट्रविरोधी कार्यों का अब कोई स्थान नहीं रह गया है क्योंकि इनसे आदिवासियों का अहित होता है। इनको पिछड़ी हुई अवस्था में और अलग रहने देने से सम्भव है कि एक दिन इनका चिन्हमात्र भी शेष न रहे।

साथ ही, हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि सभी जातियों का अपना एक इतिहास होता है जो अन्य बातों से मिल कर उनकी संस्कृति का रूप निश्चित करता है। जीवन को सुखमय बनाने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि परिवर्तन-कारी शक्तियों अथवा उन शक्तियों को जो समाज पर गहरा प्रभाव डाल रही हैं, ऐसी दिशा में लगाना चाहिए जिससे समाज की आर्थिक और सांस्कृतिक उन्नति में सहायता मिले। दक्षिणेश्वर के महर्षि परमहंस ने ठीक ही कहा है कि 'घोड़ों को ठीक मोड़ पर लाकर ही मोड़ना चाहिए।' इस सम्बन्ध में एक बात स्मरणीय है कि भौतिक वस्तुओं की दृष्टि से आदिवासियों की स्थिति सर्वत्र बहुत गिरी हुई है। इसलिए हमारा प्रत्येक प्रयत्न इनकी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए होना चाहिए।

सम्भवतः हम यह बात अच्छी तरह नहीं जानते कि भारत के सभी आदि-वासियों में किशोरावस्था तक के बच्चों के लिए शिक्षा की सुसंगठित व्यवस्था थी। बचपन में बच्चे घर पर ही अपने बड़ों का अनुकरण करके सीखा करते थे और उसके

बाद इनकी शिक्षा-दीक्षा का भार 'एसोसिएशन' नामक संस्थाओं पर रहता था। बचपन में घर पर और बाद में शयनागार (डारमेट्री) दोनों ही स्थानों पर इनकी शिक्षा-दीक्षा आदिवासी जीवन के तौर-तरीकों से सम्बद्ध होती थी। इनकी शिक्षा का सम्बन्ध सदैव इनके जीवन से होता है। इसलिए इनकी शिक्षा का यह पहलू शिक्षा के आधुनिक सिद्धान्तों के अनुरूप है। अतएव हम इनकी शिक्षा का जो भी कार्यक्रम बनाएं, वह इनके जीवन से ही सम्बन्धित होना चाहिए।

मैंने अपनी पुस्तक 'आवर एजूकेशन' में इस विषय पर विस्तारपूर्वक लिखा है। उसमें मैंने यह बताने की चेष्टा की है कि प्रारम्भिक शिक्षा के लिए एक ऐसा पाठ्यक्रम किस प्रकार बनाया जा सकता है कि जिसमें आदिवासियों के परम्परागत जीवन के तत्वों का समावेश हो और बाद में इन्हें इनके पड़ोसियों की अधिक उन्नत संस्कृति से किस प्रकार परिचित कराया जाए। इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली शिक्षा के मुख्य सिद्धान्तों और आदिवासियों के शिक्षा सम्बन्धी आदर्शों के अनुरूप होगी। यह सब कहने का आशय यह है कि आदिवासियों की व्यावहारिक शिक्षा के साथ-साथ प्रारम्भिक पाठ्य पुस्तकें ऐसी होनी चाहिएं जिनमें इनकी प्राचीन संस्कृति सम्बन्धी विषय हों और बाद में पड़ोसी जातियों की संस्कृति से सम्बन्धित विषय भी सम्मिलित कर लिए जाएं।

इनकी शिक्षा का माध्यम इनकी मातृभाषा ही होनी चाहिए। प्रादेशिक भाषाएं इन्हें उच्च कक्षाओं में पढ़ाई जाएं। लिपि क्या हो, यह प्रश्न बड़ा टेढ़ा है। यदि हमारे पूरे देश की एक ही सरल लिपि होती तो वह इन निरक्षर आदिवासियों के लिए, जिनकी अपनी कोई लिपि नहीं है, उपयुक्त होती। यदि इनके राज्य में एक ही लिपि व्यवहृत होती हो तो इन्हें उसे अपना लेना चाहिए। आदिवासी भाषाओं की विशिष्ट ध्वनियों को व्यंजित करने के लिए उस लिपि में कुछ नयी ध्वनि-श्रेणियां सम्मिलित की जा सकती हैं। विभिन्न आदिवासी-भाषाओं की नई ध्वनियों की आवश्यकता को ध्यान में रख कर ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि एक अक्षर की दो ध्वनियां न हों और विभिन्न क्षेत्रों में एक ही ध्वनि वाले एक से अधिक अक्षर न हों।

इनकी शिक्षा के सम्बन्ध में विचार करते समय आर्थिक परिवर्तनों की बात करना वैसे तो अप्रासंगिक प्रतीत होता है किन्तु हम स्वीकार कर चुके हैं कि शिक्षा का सम्बन्ध जीवन से होना चाहिए और हमारा उद्देश्य इनकी आर्थिक स्थितियों को बदलना है। इसलिए इस सम्बन्ध में कुछ कहना अनिवार्य हो जाता है।

बहुत से क्षेत्रों के आदिवासी अपने पड़ोसियों की अवांछनीय गतिविधियों के कारण अपनी भूमि खो बैठे हैं, किन्तु इस दुर्भाग्य का सामना केवल इन्हें ही

नहीं बल्कि बहुत-सी अनुसूचित जातियों और कुछ उन्नत कृषकों को भी करना पड़ा है। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि विभाजन के पूर्व बंगाल प्रान्त में १९३९ के बाद प्रति वर्ष कृषि योग्य भूमि के विक्रय का अनुपात कुल भूमि का १ प्रतिशत था और १९४३-४४ के दुर्भिक्ष के समय यह अनुपात बढ़कर ३ प्रतिशत हो गया था। इसके बाद यह अनुपात २ प्रतिशत प्रतिवर्ष हो गया है। आदिवासियों की भूमि छिनती न रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि कुछ कानून बनाए जाएं और इनमें भूमि का पुनर्वितरण किया जाए। इसके अलावा सहकारी कृषि की पद्धति की, जो कुछ दिन पूर्व तक आदिवासियों में प्रचलित थी, स्कूलों में व्यावहारिक शिक्षा भी दी जाए। स्कूलों में पुराने औजारों और यन्त्रों को सुधारने का प्रशिक्षण भी दिया जाना चाहिए। खासी लोगों में डोन बोस्को स्कूल आदि कुछ गैर-सरकारी संगठनों ने इस दिशा में कुछ कार्य किया है। मेलघाट आदि कुछ क्षेत्रों में १९४१ तक, जब मैंने कोर्कु गांवों का दौरा किया था, कुछ लोग तख्ते चीरने के लिए बसूले का प्रयोग कर रहे थे जबकि आरा अधिक उपयोगी हो सकता था।

जिस प्रकार आदिवासियों को पुराने औजारों के स्थान पर कृषि के आधुनिक औजारों का प्रयोग सिखाया जा सकता है, उसी प्रकार आधुनिक प्रणालियों के आधार पर इनकी प्रौद्योगिक उन्नति भी की जा सकती है। इस प्रकार का प्रयास चुकोटक के चुकची मछुवों और शिकारियों तथा रूस में किरघीजिया के किरघी चरवाहों में सफल हो चुका है। ऐसे ही कुछ परिवर्तन चीन के गणराज्य में बसने वाले आदिवासियों में भी किए जा रहे हैं। हमारे देश में शिक्षा का स्तर रूस में १९१७ के ज़ारकालीन शिक्षा के स्तर से किसी भी प्रकार नीचा नहीं है और १९४७ में प्रौद्योगिक प्रगति और शिक्षा की दृष्टि से हमारा देश चीन की अपेक्षा अधिक उन्नत था। इसलिए कोई कारण नहीं है कि हम अपने देश के आदिवासियों का विकास न कर सकें।

यहां एक बात अवश्य ध्यान रखने की है कि आदिवासियों की शिक्षा का इनके जीवन से सीधा सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध के कारण ये जीवन में शिक्षा की उपादेयता भी समझ पाते हैं। बचपन में जब कोई सन्थाल लड़का खेतों से चूहा मारकर उसे भूनता है तो वह अपना भोजन ही तयार कर रहा होता है। जब कोई सन्थाल लड़की जंगली जड़ों को पकाती है तो यह हमारे बच्चों के भोजन बनाने के खेल के समान नहीं होता। यह लड़कियां ऐसी हरी पत्तियां पकाती हैं जो खाई जाती हैं। शयनागार में इनके प्रत्येक कार्य का सम्बन्ध गांव के उत्सवों तथा त्योहारों अथवा उसके आर्थिक और सामाजिक जीवन से होता है। इसका परिणाम यह होता है कि बच्चों को स्कूलों में जाने और अपना पाठ सीखने के लिए प्रेरित नहीं करना पड़ता। अपने बड़ों और गांव वालों के व्यवहारों से ही इनकी शिक्षा पूरी हो

जाती है। ऐतिहासिक कारणों से सुसंस्कृत जातियों में शिक्षा क्रम और शिक्षा क उद्देश्य में अन्तर आ गया है। इसलिए अनुशासन की ओर अत्यधिक ध्यान दिया जाता है। स्कूलों में उच्च शिक्षा की व्यवस्था की जा सकती है। और जीवन से उसे सम्बद्ध किया जा सकता है अतएव छात्रों को प्रौद्योगिक विकास का इतिहास समझाकर उन्हें ध्येय प्राप्ति और अध्ययन के प्रति उन्मुख किया जा सकता है। इस प्रकार का शिक्षण प्रत्येक छात्र विशेष रूप से आदिवासी छात्र के लिए लाभदायक हो सकता है क्योंकि ये परम्परा से ही इसके अभ्यस्त हैं।

आदिवासियों की वर्तमान शिक्षा प्रणाली के कुछ दोषों का उल्लेख कर मैं अब अपने इस लेख को समाप्त करता हूं। जून १९५२ में दिल्ली में हुए अनुसूचित आदिम जाति और अनुसूचित क्षेत्र सम्मेलन में प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति दोनों ने इस बात पर जोर दिया था कि आदिवासियों की शिक्षा का माध्यम इनकी मातृभाषा ही होनी चाहिए और इनकी संस्कृति के विकास में सहायता करनी चाहिए। खेद की बात है कि राज्य सरकारें इस सिद्धान्त का पालन दृढ़तापूर्वक नहीं कर रही हैं। असम में खासी पहाड़ियों के बहुत पुराने स्कूलों को छोड़कर प्रायः सर्वत्र शिक्षा का माध्यम असमिया भाषा है। इसका कारण वह लोग यह बताते हैं कि शिक्षकों के लिए आदिवासी भाषाएं सीखना अत्यन्त कठिन है। परन्तु ऐसा कहते समय वह यह बात बिल्कुल भूल जाते हैं कि आदिवासी छात्रों के लिए असमिया सीखना कितना कठिन है। उड़ीसा में शिक्षा का माध्यम उड़िया है। छोटा नागपुर में आदिवासी बच्चों को हाई स्कूलों में हिन्दी के माध्यम से शिक्षा दी जाती है। मध्य प्रदेश के बरार में भी यही बात है। अधिकांश आदिवासियों में इस परवशता के प्रति असन्तोष जाग उठा है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि सभी शिक्षा-शास्त्री और आदिवासियों के शुभचिन्तक ऐसे कार्यों की निन्दा करेंगे जो इनके और राष्ट्र के हितों के विरोधी हों।

आदिवासियों की कला

- वेरियर एलविन

कुछ दिन हुए मध्य भारत के आदिवासियों की कला पर मेरी एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी जिसका पाठकों ने काफ़ी आदर भी किया था। उसमें मैंने अपने देश के आदिवासी भाइयों की कला-प्रियता के बारे में प्रकाश डाला था। मेरा एक मित्र है जो कवि और कला-आलोचक दोनों ही है। उसे मेरी पुस्तक पढ़कर अत्यन्त निराशा हुई क्योंकि उसका कहना है, "पुस्तक में संगृहीत बहुत-सी वस्तुएं, जिनके चित्र दिये गए हैं, वे न तो सुन्दर हैं और न कलापूर्ण। यदि हम कला शब्द का प्रयोग किसी बोधगम्य अर्थ में करें तो सम्भवत: असम के कुछ भागों को छोड़कर भारत के शेष आदिवासियों की कोई कला ही नहीं है।"

जब मैं इस विषय पर सोचता हूं तो सहसा मुझे इसका विश्वास नहीं होता। यह तो सच है कि भारत के आदिवासियों की कला पश्चिम अफ्रीका के आइवरी कोस्ट की कला के समान विकसित नहीं है। बेनिन, न्यूज़ीलैण्ड, उत्तरी अमेरिका और प्रशान्त द्वीपों के कुछ भागों में जो सुन्दर चेहरे बनाए जाते थे, हमारे आदिवासियों की कला उनकी भी समता नहीं कर सकती। परन्तु फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि हमारे आदिवासियों की कला बिल्कुल गई बीती है। इनकी कला को हम अपने स्तरों की दृष्टि से नहीं परख सकते। इस कला में वास्तव में परिप्रेक्षण का अभाव है, सत्य को अकसर विकृत कर दिया जाता है, बातों को अजीब और भद्दा रूप दे कर बढ़ा-चढ़ा दिया जाता है और भारत में तो कला की एसी बहुत-सी चीजें हैं जिनका पहली नज़र में कोई महत्व प्रतीत नहीं होता।

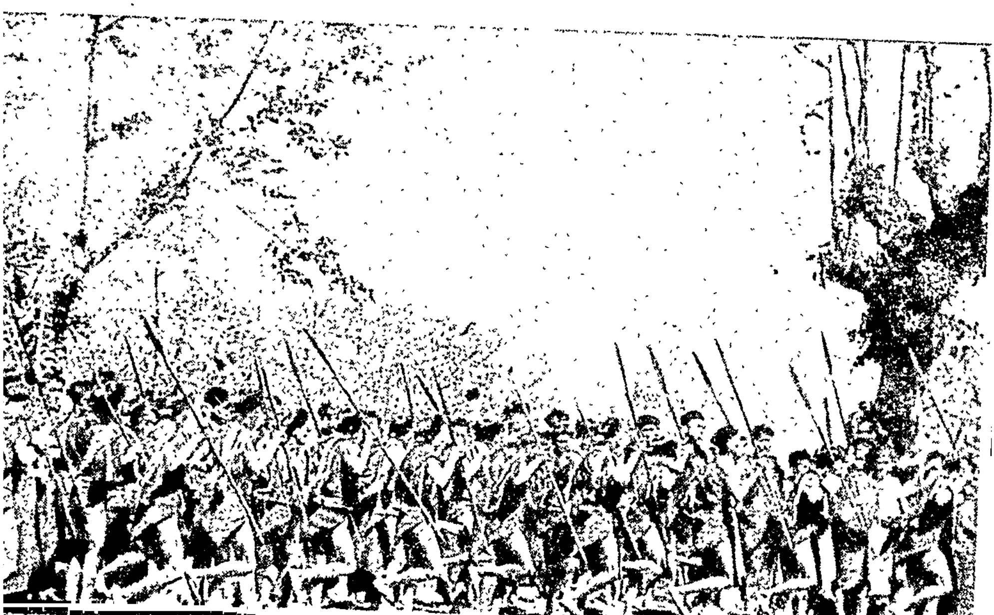
लियोनहार्ड एडम ने आदिवासी कला क सम्बन्ध में पेलिकन प्रकाशन की एक अत्यन्त लाभदायक पुस्तक में लिखा है "कला को पूर्ण रूप से समझने के लिए हमें उसकी पृष्ठभूमि समझनी चाहिए।" आदिवासियों की कला के लिए तो यह बात बहुत ही सच है क्योंकि उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बिल्कुल ही भिन्न है। अफ्रीका में बनी हुई किसी पूर्वज अथवा देवता की प्रतिमा को जो मन्दिर वगैरह में रखने के लिए बनाई गई हो, यदि हम उसके स्थान से हटाकर शीशे की अलमारी में बन्द करके भारत या यूरोप में चाहे जहां रखें, वह उतनी प्रभावोत्पादक नहीं रह जाएगी।

आकाशवाणी के दिल्ली केन्द्र से राष्ट्रीय कार्यक्रम के अधीन ३० जून १९५४ को प्रसारित वार्ता।

खोण्ड वधू



नागा युद्ध-नृत्य





आदिवासी क्षेत्र में बुनियादी स्कूल की लड़कियां
बच्चों को नहला रही हैं

भारत के आदिवासियों की कला का असली महत्व उपयोगिता की दृष्टि से है, इसलिए हम उसे उपयोगिता अथवा सामाजिक उपादेयता से अलग करके कभी भी नहीं समझ सकते। आदिवासियों में 'कला, कला के लिए' नहीं होती। इनके लिए कला धार्मिक अथवा जादू-टोने के उद्देश्य की पूर्ति करती है और इसका सामाजिक महत्व होता है। इनकी कला का लक्ष्य केवलमात्र सौन्दर्य अथवा अलंकरण नहीं होता।

अब हम धर्म तथा टोना-टोटका से सम्बद्ध उद्देश्यों पर विचार करेंगे जिनके कारण इनकी सृजनात्मक शक्ति इस दिशा में उन्मुख हुई है। एक लेखक ने पश्चिमी अफ्रीका की कलाओं के विषय में अपनी पुस्तक में लिखा है कि "आदिवासियों की कला सर्वाधिक शुद्ध और आडम्बर रहित होती है. इसका कुछ कारण तो यह है कि यह धार्मिक भावनाओं और आध्यात्मिक अनुभूति से प्रेरित होती है और कुछ इसलिए कि यह कला के रूप में पूर्ण रूप से अनात्मव्यंजक है। इस कला में इस प्रकार के कौशल की कोई गुंजाइश नहीं है जिसे कोई भी अयोग्य व्यक्ति सीखले और न ही इसमें ऐसी तकनीकी कलाबाजियों का स्थान है जिन्हें प्रेरणा-जनित कृति के रूप में प्रस्तुत किया जा सके।"

मूर्तियों और प्रतिमाओं की उपासना का, जो संसार के अन्य भागों में प्रेरणा का प्रबल स्रोत रही हैं, भारत के आदिवासियों में अभाव है। आदिवासियों की कला में देवताओं की पूजा अपवाद-स्वरूप ही मिलती है। गोण्ड, सन्थाल, भील और नागा आदि प्रमुख आदिमजातियों के देवताओं के प्रतीक यदि हैं भी तो पत्थरों, मिट्टी या किसी आकारहीन लकड़ी के टुकड़ों के रूप में हैं। इनके मन्दिर प्रायः खाली ही रहते हैं। यह इसलिए भी बड़ी अजीब बात लगती है कि पौराणिक गाथाओं की भांति आदिवासी भी अपने देवताओं की कल्पना नर-रूप में करते हैं।

वास्तव में ये मूर्तियां देवी-देवताओं के प्रतीक-स्वरूप नहीं बल्कि उन्हें समर्पित करने के उद्देश्य से बनाई जाती हैं। उदाहरणार्थ, बस्तर जिले में मुरिया लोग मन्दिरों में पीतल की बनी हुई घोड़े, हाथी, मनुष्य अथवा जादूगरों की छोटी-छोटी आकर्षक मूर्तियां चढ़ाते हैं। अन्य आदिमजातियां मिट्टी की बनी चिड़ियां, घोड़े और हाथी चढ़ाती हैं।

हमारी आशा के विपरीत इनकी कला को वैवाहिक संस्कारों से बहुत कम प्रेरणा मिलती है। आदिवासियों के लिए विवाह एक ऐसा समय है जब से वर-वधू को बहुत-से भय बने रह सकते हैं। उन पर भूत-प्रेतों की मलिन छाया पड़ सकती है जिसके कारण नव-विवाहित दम्पति बांझ हो सकता है अथवा उनकी मृत्यु हो सकती है। इसलिए जिस स्थान पर इनके वैवाहिक संस्कार सम्पन्न होते हैं वहां ये जमीन पर बहुत-से ऐसे चित्र बनाते हैं जिनसे भूत और चुड़ैल भाग जाएं।

सुरक्षा की दृष्टि से ये लोग वर और वधू को बहुत बड़े-बड़े मौड़ पहनाते हैं। मण्डला के गोण्ड लोगों में मैंने देखा कि विवाह कक्ष के मध्य में बहुत सुन्दर दीवट रखे हुए थे। इनमें से कुछ अगारिया जाति के पुराने लुहारों ने लोहे से बनाए थे और उन पर हिरनों के बहुत सुन्दर सिर बने हुए थे। शेष दीवट लकड़ी के बने थे जिनमें वृक्ष के तने से बड़े आकर्षक रूप में निकले हुए मानवी सिर और भुजाएं बनी हुई थीं।

सन्थाल लोग विवाह संस्कारों को बहुत अधिक महत्व देते हैं, विशेषकर वर-वधू के ले जाने वाली पालकियों पर। इन पालकियों पर बहुत सुन्दर नक्काशी अथवा अधिकांशतः नक्काशी के समान लकड़ी पर खुदाई की जाती है। इस कार्य के लिए बसूला या दाओ का उपयोग किया जाता है। इनकी नक्काशी विवाह सम्बन्धी प्रेम और आनन्द की प्रतीक होती है और इसका उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति की क्षमता की भावना का वातावरण तैयार करना होता है। इसमें पुरुषों तथा स्त्रियों और पशुओं के पारस्परिक सम्मिलन के चित्र होते हैं जैसे गाय एक-दूसरे से सिर मिलाकर मिलती हैं, मित्र एक-दूसरे का आलिंगन करते हैं और बन्दर पंजे से पंजा मिलाकर एक दूसरे का स्वागत करते हैं। सन्तानोत्पत्ति की क्षमता के प्रतीक स्वरूप गायों के साथ बछड़े, चिड़ियों के साथ बच्चे और स्त्रियों के स्तनों से चिपटे हुए बच्चों की आकृतियां होती हैं। ये लोग गर्भवती स्त्रियों के भी चित्र बनाते हैं। इनका सारा प्रयत्न पालकी और विवाह को अधिक से अधिक मंगलदायक बनाने का होता है।

आदिवासियों की कला में मृत्यु के उदास वातावरण का भी चित्रण किया गया है। गंजम के पुरातनपन्थी मछुए समुद्र के किनारे मृतक के लिए छोटी-छोटी समाधियां बनाकर उनमें कब्र की प्रतिमाएं रख देते हैं। इनके कुछ पुराने नमूने अत्यन्त विचित्र और भयावह हैं जिनमें प्रतिमाएं कुरूप भूतों के समान प्रतीत होती हैं। इनकी आधुनिक मूर्तियां अधिक सजीव और प्रगतिशील हैं जिनमें हाथी या घोड़े पर सवार रंग-बिरंगे वस्त्र पहने हुए स्त्री और पुरुषों की प्रतिमाएं समाधि पर रखी हुई हैं। मेरे पास एक मूर्ति है जिसमें एक पिता अपने मृतक पुत्र को गोद में लेकर हाथी पर सवार होकर मृत्यु के अज्ञात प्रदेश को जा रहा है क्योंकि यह समझा जाता है कि उसका छोटा-सा बच्चा उस रहस्यमय प्रदेश के रास्तों से परिचित नहीं है।

बस्तर के माड़िया लोग अपने मुख्य मृत व्यक्तियों की स्मृति में लकड़ी के शानदार स्तम्भ बनाते हैं। इन पर ये लोग ऐसी चीजें बनाते हैं जो मृतक को पसन्द थीं जैसे सुन्दर वस्त्राभूषणों से सजी हुई नर्तकियां, विशाल पात्रों से मदिरा पान कराती हुई सुन्दरियां, शिकार के दृश्य और देव-भक्ति में लीन पुरोहित। मृतक-मूर्तियां बनाने में भी असम के उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश के रहने वाले फोम और कोन्यक लोगों की कोई समता नहीं कर सकता। कुछ मानव विज्ञान

चेत्ताओं का विश्वास है कि इससे इनकी मृतात्माओं को अस्थायी विश्राम का स्थान मिल जाता है। इन मूर्तियों पर मृतक स्त्री या पुरुष के आभूषण और गुदाई के निशान बनाए जाते हैं और फिर उन्हें छोटी-छोटी समाधियों में रख दिया जाता है जो तलवार आदि शस्त्रों से सजाई जाती हैं।

मृत्यु ने जहां एक ओर आदिवासियों की कला को प्रेरणा प्रदान की है, वहां दूसरी ओर उसने बहुत बड़ा अहित भी किया है क्योंकि एक तो मृत्यु से सदा के लिये रचनात्मक उद्देश्य नष्ट होता है और दूसरे इन जातियों का विश्वास है कि मनुष्य की बनाई हुई कोई भी सुन्दर वस्तु उस की मृत्यु के साथ नष्ट हो जानी चाहिये। इसलिए सन्थाल लोग मृतक के साथ ही सुन्दर नक्काशी से युक्त उसकी प्रिय मुरली अथवा सारंगी को जला अथवा गाड़ देते हैं। चांग, फोम तथा कोन्यक और जहां तक मेरा विचार है सीमान्त प्रदेश की बहुत-सी आदिम जातियों द्वारा बनाए गए मकबरे आजयबघर जैसे दिखाई पड़ते ह। बांस के बने जिस चबूतरे पर शव रखा जाता है, उस पर ये लोग अनेक प्रकार के आभूषण, कपड़ों के टुकड़े, टोकरियां, हथियार ओर जाल लटका देते हैं। हवा और वर्षा में ये सब वस्तुएं नष्ट हो जाती हैं। कई बार मेरी इच्छा हुई कि मैं उन्हें वहां से हटाकर नष्ट होने से बचा लूं। इन वस्तुओं का नष्ट होना बहुत बड़ी हानि है—दुखकर हानि है परन्तु उनके छूने का अर्थ होता है आदिवासियों को ठेस पहुंचना और उनकी परम्परा तोड़ना।

आदिवासियों की कला को धर्म ने एक अन्य अत्यन्त मनोरंजक ढंग से प्रभावित किया है जिसके उदाहरण हमें कोरापुट और गंजम के सावरा लोगों द्वारा बनाए हुए सुन्दर भित्तिचित्रों में मिलते हैं। कल्पित लोक की शक्ति और वास्तविकता के सम्बन्ध में इनकी कल्पना अत्यन्त प्रबल है, जहां इनका विचार है कि इनके देवता, भूत-प्रेत और इनके पूर्वजों की आत्माएं निवास करती हैं। ये अदृश्य आत्माएं मानव जीवन में निरन्तर व्याघात उपस्थित करती रहती हैं। इसलिए नाना प्रकार की बलि देकर और इनकी अहं भावना को सन्तुष्ट करके इन्हें प्रसन्न करना अत्यन्त आवश्यक है। घर की दीवारों पर चित्र बनाना इनका इसी प्रकार का एक प्रयास है। ये चित्र मृतात्मा के सम्मान में, रोगों को दूर करने तथा खेतों में पैदावार बढ़ाने की भावना से और कुछ विशेष उत्सवों के अवसरों पर बनाए जाते हैं। इनका विचार है कि रोग और उर्वरता, दोनों पर इन शक्तियों का नियन्त्रण होता है।

अधिकांश गांवों में एक विशेष चित्रकार होता है जो ये चित्र बनाता है। कहा जाता है कि ऐसे चित्र बनाने के लिए उसे स्वप्नों म प्रेरणा मिलती है। जिस दिन उसको चित्र खींचना होता है, उससे पहली रात को वह उस दीवार के सामने भूमि पर इस आशा से सोता है कि जो कुछ उसे अगले दिन बनाना है वही उसे स्वप्न में दीख जाएगा। सावरा लोगों के घरों की दीवारें लाल रंग

से रंगी हुई होती हैं। इसलिए चित्रकार चावल के आटे से बनाए हुए सफेद रंग से चित्र बनाता है। ये चित्र बहुत प्रकार के होते हैं और इनमें से कुछ अत्यन्त आकर्षक होते हैं। इन सभी में प्राय: किसी न किसी कहानी का और अन्य लोक की मृतात्माओं के साहसी कार्यों का अंकन होता है। इन चित्रों में बने हुए देवताओं के घरों में उनके अंगरक्षक और प्रिय पशु होते हैं। जिस प्रकार हम लोग अपने घरों में कुत्ते और बिल्लियां पालते हैं, उसी प्रकार देवता लोग चीता और बन्दर पालते हैं। इनमें शल्यकी होता है जो उस लोक का पुरोहित माना जाता है और मोर भी होता है जो वहां का चौकीदार माना जाता है। कभी-कभी इन चित्रों में हवाईजहाज़, मोटर और रेलगाड़ियां भी बनी होती हैं। क्योंकि आधुनिक सभ्यता ने उस लोक को भी प्रभावित कर दिया है। देवता तथा प्रेत भी आधुनिक यातायात की सुविधाओं से लाभ उठाते हैं।

ये चित्र उपयोगिता की दृष्टि से बनाए जाते हैं प्रदर्शन के लिए नहीं। ये प्रेतात्माओं के देखने के लिए होते हैं मनुष्यों के लिए नहीं। इसीलिए ऐसे चित्र प्राय: घर के सबसे अंधेरे कोने में बनाए जाते हैं अथवा इन्हें तुम्बियों और बर्तनों से ढक दिया जाता है। यथार्थ में इनका उद्देश्य यह होता है कि कोई भी मनुष्य इन चित्रों को न देखे और न इनका प्रतिचित्र ही उतारे क्योंकि इन्हें बराबर यह भय बना रहता है कि कोई भी मूर्खतापूर्ण शब्द अथवा कार्य इन देवताओं को अप्रसन्न न कर दे। देवता सौन्दर्य के प्रेमी नहीं चाटुकारिता के प्रेमी हैं।

सावरा लोगों की कला का कोई भी अंग ऐसा नहीं जो धर्म द्वारा प्रभावित या प्ररित न हो। इनके भित्तिचित्रों में हम स्पष्टत: देख सकते हैं कि सम्प्रदाय और कल्पित गाथाएं मनुष्यों को कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए किस प्रकार प्रेरित करती हैं। यहां हमें इनके स्वप्नों, स्वर्ग और नरक के प्रति इनकी आशाओं और निराशाओं और इनके धार्मिक विश्वास का चित्रण मिलता है।

भारत की महान परम्परा में भारत के आदिवासियों की कला का क्या स्थान है? क्या इनमें कोई पारस्परिक सम्बन्ध है? मेरा विचार है कि ऐसा है। भारत में एक ऐसा वातावरण है जहां मानव एक अदृश्य शक्ति से प्रेरणा पाकर शताब्दियों से सौन्दर्य का उपासक रहकर एक सर्व सामान्य नमूने और प्रतीक का आश्रय लेता रहा है। आधुनिक आदिवासी दीवारों तथा दरवाजों पर, कंघों और तम्बाकू के डिब्बों पर आज भी जो नमूने बनाता है, वे वर्षों पुरानी सिन्धु घाटी की प्राचीन सभ्यता के समय के हैं।

इसके विपरीत भारत की शास्त्रीय परम्परा की किसी भी चीज़ की नर-मुण्ड के शिकार की भावना से प्रेरित इस कला से कोई तुलना नहीं की जा सकती।

सीमान्त प्रदेशों में रहने वाली चंग, कोन्यक, फोम, काल्यो-केंगन्यू, संगतम तथा अन्य आदिम जातियों में नरमुण्डों के शिकार की प्रथा अलंकरण का प्रधान साधन मानी जाती थी परन्तु अब यह हमारे प्रशासकीय विभाग द्वारा बहुत प्रयत्नों के बाद समाप्त कर दी गई है। जिस व्यक्ति के पास नरमुण्ड रहता था केवल वही 'मोरुंग' में आदमी का चित्र बन सकता था, बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण पहन सकता था और केवल उसी के सम्मान में शानदार मकबरा बनाया जाता था। बांस के बने हुए गिलासों पर ये लोग बड़ी कुशलतापूर्वक नक्काशी करते थे परन्तु चित्रण अधिकांशतः नरमुण्डों का ही होता था। विजयी योद्धा नक्काशी से युक्त लकड़ी अथवा पीतल के बने सिर पहनते थे। अब जबकि यह प्रथा समाप्त हो गई है तो इनकी प्रेरणा के अन्य स्रोत क्या होंगे?

सम्भव है इनके लिए प्रेरणा का अब कोई अन्य साधन न हो क्योंकि आधुनिक काल में आदिवासियों की कला का अध्ययन करना एक अरुचिकर कार्य है। आज मेरी भी दशा कुछ वैसी ही है कि जैसी मरणासन्न कीट्स की शय्या पर झुककर उस सुन्दर मुख से लुप्त होती हुई जीवनज्योति को देख रहे सेवर्न की थी जिसके मुख पर उन अधरों से फिर कभी कोई काव्य-पंक्ति न सुनने की निराशा छा रही थी। आज हम भी एक महान कला को लुप्त होते देख रहे हैं।

आज की प्रगतिशील सभ्यता ने आदिवासियों को निर्जीव बना दिया है। इनके एक गांव में स्कूल खोलिए कि इनकी नक्काशी की कला का अन्त हो जाएगा। इनक यहां नवीन योजनाकार्य आरम्भ कीजिए— ये अपने प्राचीन परन्तु सुन्दर अलंकरण उतार फेंकेंगे। एक दुकान खोलिए कि ये मशीनों की बनी हुई भड़कीली वस्तुओं को लेने के लिए लालायित हो उठेंगे। क्योंकि आदिवासी, जो नमूने बनाने और रंगों का चुनाव करने के अपने क्षेत्र में अत्यन्त कुशल और आडम्बर हीन है, नयी सभ्यता को भ्रमवश अपनी सभ्यता से उत्कृष्ट समझकर रंग-रूप सम्बन्धी अपना सारा ज्ञान खो बैठता है।

क्या आदिवासियों की कला की रक्षा की जा सकती है? मेरा विचार है कि हमारा प्रयास यही होना चाहिए कि उनकी कला सुरक्षित रहे। इस कार्य में सफलता बहुत-कुछ हमारे शिक्षाशास्त्रियों की नीति पर निर्भर है। पश्चिम अफ्रीका के अचीमोटा कालेज में वहां के शिक्षक 'बेनिन कला' को पुनर्जीवित करने में बहुत सफल हुए हैं विशेषकर पीतल की वस्तुएं बनाने में; शिक्षाक्रम में कला पर जोर देने और अफ्रीकी कारीगरों की लकड़ी पर खुदाई करने की परम्परागत कला का सम्मान करने से पश्चिमी तट की इस मृतप्राय कला का उद्धार हो सका है। इनका उद्देश्य प्राचीनता के प्रति मोह नहीं बल्कि आज के बदलते हुए समाज की

आवश्यकता के अनुरूप अफ्रीकी कला कौशल को बनाए रखना है। भारत में हमारा उद्देश्य भी यही होना चाहिए।

यदि हम भारत के आदिवासियों को सम्मान की दृष्टि से देखें तो वे अपना आत्मसम्मान सुरक्षित रख सकेंगे और अपनी प्राचीन परम्पराओं के प्रति गर्व का अनुभव करते रहेंगे। संसार में प्रेम से बढ़ कर दूसरी कोई शक्ति नहीं है। संसार में आप, मैं और हम सभी वस्तुतः एक प्रेम-कार्य के ही परिणाम हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि यदि हम सभ्य और शिक्षित लोग सच्चे हृदय से अपने आदिवासी भाइयों से प्रेम करेंगे तो इससे इन पर, इनके जीवन पर, और इनकी कला पर जादू जैसा असर होगा।

उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश में आदिवासियों का प्रशासन

एन० के० रुस्तमजी

आज हमारे देश में आदिवासियों के प्रति अपने उत्तरदायित्वों के बारे में लोगों की जागरूकता दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। इसीलिए आदिवासी क्षेत्रों के विकास में भी हमारी रुचि बढ़ रही है। आदिवासियों और इनकी संस्थाओं को अब हम कौतूहल भरी दृष्टि से नहीं देखते बल्कि हम इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं कि इनका समुचित विकास हो और ये अपने अन्य सभ्य देशवासियों की भांति उन्नत हो जाएं।

योजना बनाना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है और यदि वहां स्कूल और अस्पताल खोल देने ही से शासकों का उत्तरदायित्व पूरा हो जाता तो आदिवासियों की समस्या इतनी जटिल न दिखाई देती। आदिवासी क्षेत्रों में प्राप्त प्रशासनिक अनुभवों से पता चला है कि आदिवासियों की समस्याओं को हल करने और वहां प्रशासन चलाने के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता है। प्रशासन के वे ही तौर-तरीके जो सामान्य स्थितियों और सुव्यवस्थित क्षेत्रों में सफल हो सकते हैं, यदि आदिवासियों के लिए भी लागू कर दिए जाएंगे तो उनके परिणाम गम्भीर होंगे और उनसे आदिवासियों का अहित होगा।

यहां हम भारत के उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश के आदिवासियों के ही विषय में विचार कर रहे हैं। यदि हम उनकी समस्याओं और उन्हें सुलझाने के सही उपायों को मोटे रूप में ही समझना चाहें तो पहले इन सीमान्त प्रदेशों की, मूल विशेषताओं का परिचय प्राप्त करना आवश्यक होगा जो शताब्दियों से पहाड़ी लोगों के निवास-क्षेत्र रहे हैं।

इन प्रदेशों के लिए कोई भी योजना बनाते समय सबसे पहले हमें इस बात का ध्यान रखना है कि आदिवासियों की बस्तियां बहुत दूर-दूर होती हैं और कभी-कभी तो एक गांव में केवल ३० अथवा ४० व्यक्ति ही रहते हैं। पहाड़ियों में बसे हुए ये गांव कभी-कभी इतनी दूर होते हैं कि वहां पहुंचने में कई दिन लग जाते हैं। बस्तियां दूर-दूर होने और यातायात की सुविधा न होने के कारण ये प्रदेश दुर्गम हैं और इन क्षेत्रों में कल्याण-योजनाएं उतनी द्रुत गति से प्रगति नहीं कर सकतीं जितनी कि मैदानों के सुव्यवस्थित क्षेत्रों में सम्भव हैं। कुछ क्षेत्रों में लोगों की आर्थिक स्थिति विशेष अच्छी नहीं है। इनकी खेती से जो उत्पादन होता है उससे ये साल भर तक बड़ी कठिनाई से अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। इसलिए जब तक

इन लोगों की वस्त्र और भोजन सम्बन्धी कम से कम आवश्यकताएं पूरी नहीं हो जाएंगी तब तक शिक्षा और चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं पर आधारित हमारी कल्याण-योजनाओं में उन्हें क्या रुचि हो सकती है ?

असम के सीमा-स्थित पहाड़ी प्रदेशों में बसे हुए लोगों का जीवन अत्यन्त परिश्रम-साध्य और कठिन है। दूर-दूर बसे हुए गांवों के बीच यातायात की सुविधा न होने के कारण आना-जाना बहुत कठिन और खतरनाक है। कहीं-कहीं तो केवल आठ-नौ इंच चौड़ा ही मार्ग होता है जहां एक ओर पहाड़ की सीधी खड़ी चट्टानें और दूसरी ओर सैकड़ों फुट की निचाई पर वेग से बहती हुई जल की धाराएं हैं। ऐसे स्थानों में जन्म से ही पले हुए परिश्रमी और अभ्यस्त लोग भी वर्षा के दिनों में इन मार्गों से जाने में हिचकते हैं, इसलिए शीतकाल में ही ये प्रायः मैदानों में उतर कर अपनी आवश्यकता की वस्तुएं ले आते हैं।

इन सीमान्त प्रदेशों में शासक को इन पूर्वोक्त भौतिक विशेषताओं का ध्यान रखना चाहिए। सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताएं भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। इन दोनों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये गांव इतनी दूर-दूर बसे हुए हैं और यातायात की इतनी कठिनाई है कि एक-दूसरे से मिलने में बहुत कठिनाई होती है। अपने वर्तमान स्थानों में बसे आदिवासी, जो सदियों पूर्व विभिन्न कालों में आकर यहां बस गए थे, अन्य देशवासियों के ही नहीं बल्कि परस्पर भी एक-दूसरे के सम्पर्क में नहीं आ पाते। इसीलिए सामान्यतः आदिवासी अधिक से अधिक एक गांव की ही बात सोच सकते हैं। इन के गांवों का संगठन भी कुछ सीमा तक ही विकसित हो पाया है।

जीवन के लिए संघर्ष की आवश्यकता ने उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश के आदिवासी लोगों में गांव के प्रति एक सामूहिक भावना को जन्म दिया। सामूहिकता की भावना ने ग्राम-प्रशासन को विकसित किया जिसके फलस्वरूप आदिवासियों का जीवन संगठित हो गया और गांव की एकता पुष्ट हुई। गांव के झगड़ों का निर्णय प्राय गांव के वयोवृद्ध लोग कर देते हैं और अपराधी से पीड़ित वर्ग को कुछ क्षतिपूर्ति दिला देते हैं। इस निर्णय को सभी लोग मान लेते हैं और गांव की एकता बनी रहती है। जब इनका झगड़ा पड़ोसी गांव से होता है तो इस एकता से इनको बल मिलता है।

संचार-साधनों के अभाव और बाहरी संसार से सम्पर्क न होने के कारण आदिवासी समाज का जीवन पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाया है। ये लोग जिस प्रकार का जीवन बिताते हैं, उससे इनके जीवन की साधारण आवश्यकताएं ही पूरी हो पाती हैं। अलग-थलग रहने के कारण इनका सामाजिक और

सांस्कृतिक विकास पूरी तरह से नहीं हो पाया और ये अन्य विकसित और विविध प्रकार की सभ्यताओं के सम्पर्क में आने से वंचित रह गए हैं। दूसरी सभ्यताओं के साथ सम्पर्क में आने से इनकी सभ्यता अधिक समृद्ध हो सकती थी और उसमें विविधता एवं गहराई आ सकती थी।

आदिवासी क्षेत्रों में जाने वाले यात्री इन लोगों के रीति-रिवाजों, नृत्य और संगीत से आकर्षित होते हैं। ये आदिवासी प्रसन्नचित और चिन्तामुक्त होते हैं। जीवन के कठोर संघर्षों के कारण ये परेशान नहीं होते। इनका जीवन-दर्शन सरल है — भोजन और वस्त्र जुटाने के लिए दिन भर काम करना और शाम को घर अथवा गांव की चौपाल में बैठकर गप-शप और संगीत का आनन्द लेना। नृत्य ये लोग विशेष अवसरों पर ही करते हैं जैसे त्योहारों या किसी सम्माननीय व्यक्ति के आने पर।

हमें यह देख कर बड़ी प्रसन्नता होती है कि संसार में यद्यपि नृत्य और संगीत की स्वतः प्रवृत्ति तेजी से कम होती जा रही है, फिर भी अपने सरल रूप में ये कलाएं आदिवासियों के जीवन का मुख्य अंग है। आधुनिक युग की क्लिष्ट कला-विधियों से अप्रभावित आदिवासियों की नृत्य और संगीत कला में एक प्रकार की सरलता है। अन्य उन्नत संस्कृतियों के कला-स्वरूपों की विविधता से वंचित रहते हुए भी इनकी कला अधिक सजीव और शक्तिशाली है और इनके दैनिक जीवन में उसका बहुत बड़ा स्थान तथा महत्व है।

उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश में आदिवासियों की समस्याओं को हल करने वाले प्रशासक को इन मुख्य बातों का ध्यान रखना चाहिए। सीमान्त प्रदेशों के बहुत-से विस्तृत भाग अभी तक अप्रशासित पड़े रहे और वहां अभी तक कोई गया भी नहीं है। इसलिए इन परिस्थितियों में हमारे प्रशासन विभाग को अत्यन्त सावधानी से आगे बढ़ना चाहिए। आदिवासी नवागन्तुकों से प्रायः सशंक रहते हैं। इसलिए इन क्षेत्रों में जहां अभी तक कोई नहीं गया है, अनेक नये लोगों के पहुंचने और वहां जल्दी में आधुनिक प्रशासन तन्त्र लागू करने का हमारा प्रयास अव्यावहारिक और मूर्खतापूर्ण हो सकता है।

पिछली शताब्दी में इन क्षेत्रों में जिन लोगों ने अच्छी तरह सोचे-समझे बिना घुसने का प्रयास किया, उसके परिणाम बहुत घातक सिद्ध हुए। लुशाई और नागा पहाड़ियों में पहली बार जिन सैनिक टुकड़ियों ने घुसने का प्रयास किया, उनको आदिवासियों के दृढ़ विरोध का सामना करना पड़ा और तत्कालीन प्रशासकीय अधिकारियों के लिए आवश्यक हो गया कि इनको नियन्त्रण में रखने के लिए कठोर दण्ड दिया जाए। दमन की नीति का परिणाम यह हुआ कि बहुत-से

गांव उजड़ गए और फसलें नष्ट हो गईं। इससे परेशान होकर इन लोगों में अलग रहकर स्वतन्त्र जीवन बिताने की प्रवृत्ति बलवती हो गई।

आदिवासियों की समस्याओं को अब एक दूसरे दृष्टिकोण से हल किया जा रहा है। वास्तविक बात तो यह है कि लोगों की विकासावस्था को देखे बिना प्रत्येक वर्ग के लोगों पर एक ही पद्धति से शासन करना गलत है। यदि हम आदिवासियों की समस्याएं हल करन में सफलता प्राप्त करना चाहत हैं तो सबसे पहले हमें इनकी समस्याओं को समझना होगा और विभिन्न क्षेत्रों तथा वहां के निवासियों के सम्बन्ध में विश्वसनीय आंकड़े एकत्र करने होंगे। बुद्धिमानी इसी में है कि समस्या को भलीभांति समझकर प्रारम्भिक अवस्था में धीरे-धीरे परन्तु दृढ़तापूर्वक ऐसी योजना बनाई जाए जो आदिवासियों के हित में हो और साथ ही व्यवहार्य भी हो।

सबसे पहला उद्देश्य यह होना चाहिए कि हम आदिवासियों के साथ सम्पर्क स्थापित करें, इनका विश्वास प्राप्त करें और इनके जीवन तथा आर्थिक स्थितियों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करें। परन्तु यह काम इतना सरल नहीं है कि एक दिन में ही पूरा हो जाए, विशेष रूप से बर्मा की सीमा पर और नागा पहाड़ियों के उपद्रवी प्रदेशों में जहां अभी कुछ ही समय पूर्व तक गांवों के परस्पर आक्रमण और समूचे गांव का विनाश करना एक साधारण घटना थी। ऐसे स्थानों में जहां पर्यटकों का आना-जाना भी बड़ा संकटमय था, वहां सम्पर्क स्थापित करने में यहां के अधिकारियों को बड़ी कठिनाई हुई।

पहले जब आदिवासी आक्रमण करके किसी व्यक्ति का सिर काटकर ले जाते थे तो उन्हें दंड देने के लिए उनका गांव नष्ट कर दिया जाता था। अब एक नया तरीका अपनाया गया है जो लाभदायक सिद्ध हुआ है। आक्रमण की सूचना पाने पर राजनीतिक अधिकारी अथवा उसका अधीनस्थ कर्मचारी तुरन्त ही प्रभावित क्षेत्रों का दौरा करता है और चिकित्सा, भोजन और वस्त्र सम्बन्धी सहायता देकर पीड़ितों की सहायता करता है। इसके बाद शान्तिपूर्ण निर्णय के लिए वह सम्बद्ध गांवों के वयोवृद्ध लोगों को एक स्थान पर एकत्रित करता है। लोगों को लड़ाई-झगड़े, आक्रमण की हानियां समझाई जाती हैं। और गांव वाले प्रायः इस बात पर सहमत हो जाते हैं कि उनके गांव में सरकारी अधिकारी और सेना की एक छोटी-सी टुकड़ी नियुक्त कर दी जाए जिससे वे निर्भय होकर शान्ति से रहें और खेती कर सकें।

आदिवासियों में कानून और अनुशासन की व्यवस्था करने, इनके साथ सम्बन्धों को दृढ़ बनाने और इनके जीवन के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करने के साथ ही हमें इनको ऐसे जीवन की ओर अग्रसर करना चाहिए जो अधिक

स्वस्थ, सुखद और समृद्ध हो। यह प्रेरणा हमें परामर्श के रूप में देनी चाहिए क्योंकि प्राय: ऐसा होता है कि प्रशासक अपने आप को सर्वज्ञ समझकर स्वेच्छाचारी हो जाता है और चाहता है कि जिस बात को वह ठीक समझता है वही इनको माननी चाहिए।

आदिवासियों पर प्रशासन करते समय हमारा प्रथम लक्ष्य यह होना चाहिए कि हम समस्याओं का समाधान इस प्रकार से करें कि ये लोग सहयोग दें। आदिवासी लोग भी भावुक और आत्माभिमानी होते हैं। वर्षों से ये स्वतन्त्र जीवन विताते आए हैं। इसलिए यदि हम अकस्मात उन पर अपने नये तरीके लागू करेंगे जो इनके समाज के लिए नये हैं तो इनका विरोध करना उचित ही होगा। इसके विपरीत यदि हम अपने उदाहरणों और व्यवहारों से नये तरीकों के लाभ बताएंगे तो ये बड़ी तत्परता से इनको लागू करने के लिए प्रशासन को सहयोग देने के लिए राजी हो जाएंगे।

ऐसे बहुत से अवसर आए जब आदिवासियों ने अपने निजी अनुभव के आधार पर पुरानी परम्परागत रीतियों को छोड़ दिया और उन नयी रीतियों से मिलने वाल लाभ को समझा जो प्रशासन अधिकारी उनके बीच लागू करना चाहते हैं। ऐसे बहुत-से उदाहरण चिकित्सा के क्षेत्र म देखने में आए। गांवों में महामारियां फलने के अवसर पर पहले तो ग्रामीणों ने चिकित्सा-सहायता प्राप्त करना अस्वीकार कर दिया और पशु तथा पक्षियों के परम्परागत बलिदानों के द्वारा ही रोग-मुक्ति का उपाय करना चाहा। किन्तु जब इन रीतियों से इन्हें कोई लाभ नहीं हुआ तो इन्होंने आधुनिक औषधियों का उपयोग करना स्वीकार कर लिया और इनके उपयोग के फलस्वरूप जो परिणाम प्राप्त हुआ उस से इन्हें इन औषधियों में विश्वास होने लगा।

सबसे पहले यह देखना अत्यन्त आवश्यक है कि कल्याण विभाग इन लोगों के साथ किस प्रकार और कैसा व्यवहार करते हैं, क्योंकि यदि इनके साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित न हुए और आदिवासियों में विश्वास पैदा न हुआ तो किसी भी कार्य का कोई लाभ न होगा। जो कुछ भी कार्य किया जाएगा, उसे आदिवासी अपने से भिन्न वाहरी समझेंगे और विकास योजनाओं का कार्य न तो सुचारु रूप से चल सकेगा और न उनसे कोई लाभ होगा। इसलिए आदिवासियों के प्रशासन के सम्बन्ध में सबसे आवश्यक बात इनके साथ निजी सम्पर्क स्थापित करने की है।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि इन लोगों के अलग-थलग स्थानों में रहने के कारण इनके जीवन-यापन के ढंगों, रीति-रिवाजों, तथा इनकी भाषाओं में बहुत विविधता पाई जाती है। इसी कारण इन सब के लिए एक ही सिद्धान्त के आधार पर कार्य नहीं किया जा सकता और सभी तथा प्रत्येक क्षेत्र में न एक

से नियम ही लागू हो सकते हैं। सुचारु रूप से बसे हुए क्षेत्रों के प्रशासन में भी जहां सभी समस्याएं सामान्यतः एक-सी ही होती हैं और संचार-साधन काफी उन्नत हैं, किसी कार्य के लिए बहुत अधिक समय लगाना उसका बड़ा दोष माना जाता है। किन्तु आदिवासी क्षेत्रों में जहां शासन-तन्त्र की व्यवस्था करने का प्रयास पहली वार किया जा रहा है, लाल फीताशाही से प्रशासन की व्यवस्था करने का परिणाम तो अवश्य ही भयंकर होगा। यदि कोई आदिवासी अपने गांव से कई दिन चलने के बाद जिला-मुख्यालय में आकर बीज अथवा औजारों के रूप में कृषि सम्बन्धी सहायता की मांग करता है तो उससे केवल यह कह देने से काम नहीं चलेगा कि मामला उच्च अधिकारियों के पास भेज दिया गया है।

आदिवासी मुख्यालयों में अधिक से अधिक एक अथवा दो दिन तक ही ठहर सकते हैं और एक वार जव ये घर लौट जाते हैं तो सम्भव है कि अगले एक साल तक ये वहां फिर न आ सकें। इसलिए ऐसे क्षेत्रों में प्रशासन शीघ्र और सीधा होना चाहिए अन्यथा आदिवासी अधिकारियों का विश्वास खो बैठेंगे और सरकारी कार्यों की अनिश्चितता का एक या दो वार अनुभव करके अपना सहयोग देना वन्द कर देंगे।

आदिवासियों के वीच काम करने वाले कार्यकर्ताओं को उदार, साहसी और बुद्धिमान होना चाहिए। इस प्रकार के असामान्य क्षेत्रों और लोगों के वीच काम करने के लिए उन्हें प्रत्युत्पन्नमति का होना चाहिए जिससे वे प्रशासन की सैकड़ों कठिनाइयों को पलक मारते ही हल कर सकें। सफल शासक सदैव नये प्रयोग करता रहता है क्योंकि कठिन से कठिन समस्याओं का व्यावहारिक हल केवल नये प्रयोगों द्वारा ही निकाला जा सकता है। यदि ये प्रयोग आंशिक रूप से भी सफल हो जाएं तो यह कुछ कम बात नहीं है। ऐसा कोई भी कार्यकर्ता जो चली आ रही प्रणाली के अनुसार ही कार्य करता रहता ह और कोई नया काम इसलिए नहीं करता कि उसे तत्काल सफलता मिलने की आशा नहीं होती, इन क्षेत्रों में सफल नहीं हो सकता क्योंकि यहां तो लोगों के विकास और उन्नति के लिए पुरानी प्रचलित प्रणाली के अनुसार ही कार्य करना बिल्कुल वेकार होगा।

आदिवासी क्षेत्रों में प्रशासन करना एक विज्ञान है जो इंजीनियरिंग अथवा चिकित्सा विज्ञान से किसी भी प्रकार कम नहीं है, परन्तु यह अभी बहुत अनुन्नत है और इसके पूर्ण विकास के लिए वहुत अधिक अनुभव और ज्ञान की आवश्यकता है। आज हमारे प्रशासकों के कन्धों पर आदिवासियों की स्थिति में सुधार करने का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है जिससे कि ये हमारे राष्ट्रीय जीवन में अपना पूरा सहयोग दे सकें।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम

एस० एन० भट्टाचार्य

१९५१ की जनगणना के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या में से ५.३६ प्रतिशत व्यक्ति आदिवासी हैं। कोई भी विकास योजना विशेषरूप से सामुदायिक विकास कार्यक्रम, जो द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल अर्थात् १९६०-६१ के अन्त तक समूचे देश में लागू हो जाएगा, तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि आदिवासी क्षेत्रों के साधनों पर ध्यान न दिया जाए और आदिवासियों की विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति न की जाए।

अक्तूबर, १९५२ में सामुदायिक विकास कार्यक्रम आरम्भ किए जाने के अवसर पर बस्तर जिले के ३,००० गांवों में से ६८२ वर्गमील के क्षेत्र में बसे १ लाख मुरिया तथा माड़िया गौण्ड लोगों की जनसंख्या के ३३५ से अधिक गांव भरपूर विकास के लिए चुने गए थे। इन क्षेत्रों के लिए भी विकास का रूप, जिसमें कृषि, स्वास्थ्य, शिक्षा और संचार-साधनों आदि का प्रमुख स्थान है, भारत के शेष प्रदेशों के ही समान था। इसमें यदि कोई अन्तर था तो केवल इसी बात में कि कुछ बातों पर अधिक जोर दिया गया और कुछ पर कम क्योंकि कार्यक्रम जनता की सबसे प्रधान आवश्यकताओं के अनुरूप ही रखना पड़ा।

योजना बनाते समय दृष्टिकोण बिल्कुल वस्तुपरक था। यह एक आर्थिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम था जिसमें आजकल की आवश्यकताओं को देखते हुए उन विकास कार्यों पर ज़ोर दिया गया था जिनके बिना यह गतिहीन और असफल न हो जाए।

सरल प्रकृति वाले इन पहाड़ी लोगों के बीच यह कार्यक्रम कार्यान्वित करना जितना सहज है उतना ही कठिन भी है। इनकी स्वाभिमान और आत्म-सम्मान की भावना को ठेस पहुंचाए बिना सच्चे प्रेम और सहायता की भावना से इनके पास पहुंचने वाला और इनकी समस्याओं को हल करने वाला व्यक्ति अवश्य सफल होगा।

जब पिछले दो वर्षों में मैं बस्तर योजना कार्य के अन्तर्गत किए गए कार्यों का सांख्यिकी सर्वेक्षण कर रहा था, तब योजना कार्य के कार्यपालक अधिकारी श्री आर० सी० वी० पी० नोरोनहा ने मुझ से कहा "आप की सफलता का माप-दण्ड क्या है, यह तो मैं ठीक से नहीं जानता परन्तु यदि आप मुझ से पूछें कि इन सारे

महीनों में मैं क्या करता रहा तो मैं कह सकता हूं कि मैंने आदिवासियों के हृदय और मस्तिष्क पर प्रभाव डाला है।"

केवल बस्तर के ही नहीं बल्कि सभी आदिवासियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यदि ये एक बार आप में विश्वास करने लगें तो ये आपके लिए सब कुछ करने के लिए तैयार रहते हैं। श्री डब्ल्यू० वी० ग्रिगसन जिन्होंने आदिवासियों के बीच अनेक वर्ष विताएं हैं, के कथनानुसार सभी माड़िया लोग स्वभाव से अत्यन्त कृतज्ञ होते हैं, इनके प्रति हम जो उदारता दिखाते हैं अथवा इनकी भलाई का हम जो भी काम करते हैं, उसके लिए ये बहुत अनुगृहीत होते हैं।*

इनकी विशेषताओं के बारे में श्री ग्रिगसन का यह भी कहना है कि "पहाड़ों में रहने वाले ये लोग साहसी और परिश्रमी होते हैं, किसानों के रूप में परिश्रमी और कहावत के अनुसार सच्चे......ये उदारता दिखाने से बहुत जल्दी वशीभूत हो जाते हैं।"

सामुदायिक विकास कार्यक्रम से, जो सरकार और जनता के पारस्परिक सहयोग पर आधारित है, आदिवासियों की यह विशेषता बहुत शीघ्र ही स्पष्ट हो गई।

योजनाकार्य अधिकारियों ने कृषि सम्बन्धी एक लम्बा-चौड़ा कार्यक्रम आरम्भ किया है। इस क्षेत्र के आदिवासी कभी एक स्थान पर तो कभी दूसरे स्थान पर खेती करते हैं। ये लोग जंगल में आग लगाकर उसे साफ कर लेते हैं और जली हुई राख से खाद का काम लेते हैं। नुकीले डण्डों अथवा आदिम प्रकार के हलों की सहायता से भूमि को खोदकर ये लोग बीज डालने के पहले निम्न मन्त्र पढ़कर अपने पूर्वजों से सहायता की प्रार्थना करते हैं:

तोदार पेपी मित कॅजत। मीकु हार किहानोम, इंजे कॅजातू, अरु माकी नेहना नेहना अनामवायी। इंजे राम अय मातु मंकमासी मन्तु (ऐ पूर्वजो! हम आप से प्रार्थना करते हैं कि आप हमारी विनती सुनिए कि इस बार हमारी फसल बहुत अच्छी हो। आप हम पर क्रोध न करके हमारे अनुरोध की रक्षा कीजिए)।

इस क्षेत्र में सिंचाई की सुविधा न होने के कारण आदिवासियों को वर्षा पर ही निर्भर रहकर खेती के लिए जुए का सा दांव लगाना पड़ता है। कुछ ही समय पूर्व तक ये लोग हरी खाद और गढ़े की खाद का नाम तक भी नहीं जानते थे। निर्द्वन्द्व भाव से जंगलों को नष्ट करने से वर्षा का पानी मिट्टी को अपने साथ बहा ले जाता है और इस प्रकार भूमि-क्षरण के कारण भूमि की उर्वरता बिल्कुल नष्ट हो गई है।

---

*'दि माड़िया गोण्ड्स आफ़ बस्तर'—डब्ल्यू० वी० ग्रिगसन।

आदिवासी लोग सदा मिल जुल कर काम करने के लिए तैयार रहते हैं और इनके अनुसार इनकी फसलें गांव के सम्मिलित उद्योग का परिणाम होती हैं, एक व्यक्ति के परिश्रम का नहीं। किसी भी सहकारी कार्य के लिए ये एक साथ ही प्रोत्साहित और एक साथ ही निराश हो जाते हैं। इनकी इस विशेषता के कारण योजनाकार्य अधिकारियों को इनके लिए कृषि कार्यक्रम बनाने में बड़ी सहायता मिली है। इस कार्यक्रम की प्रारम्भिक स्थिति में सरकार का प्रयास इस बात की ओर था कि इनमें कृषि के प्रति रुचि जागृत हो। इन्हें कृषि की उन्नत विधियों से परिचित कराना तो बाद की बात है। अब तक एक हजार एकड़ सरकारी भूमि गांव वालों द्वारा बनाई हुई सहकारी समितियों को बांटी जा चुकी है।

कोण्डागांव खण्ड मुख्यालय में इच्छापुर गांव के बलदेव सोन्ये ने सहकारी आधार पर खेती करने के लिए बीस एकड़ भूमि मांगी। एक प्रश्न के उत्तर में उसने कहा कि योजनाकार्य कर्मचारियों की सहायता से वह इस भूमि पर खेती की उन्नत विधियों से खेती करना चाहता है। उसने 'बर्मा ट्रिपल' क्रास धान के बारे में सुन रखा था और वह इसी धान को अपनी भूमि में भी पैदा करना चाहता था। दूबे उमरगांव का एक दूसरा ग्रामीण लछमन अपनी भूमि पर जापानी पद्धति से धान की खेती करता आ रहा है। इन फसलों के लिए योजनाकार्य क्षेत्रों में खोदे गए बड़े-बड़े गड्ढों से खाद मिलती है।

अभी हाल ही में ३० आदिवासी किसानों को २०० मील दूर मध्य प्रदेश का रायपुर योजनाकार्य दिखाने के लिए ले जाया गया था। इसका उद्देश्य उन्हें सामुदायिक विकास कार्यक्रम से परिचित कराना था।

आदिवासियों ने अपनी इस यात्रा से बहुत-कुछ सीखा है। अब ये भी अपने पशुओं के लिए अलग बाड़े बना रहे हैं।

संचार और सिंचाई की सुविधाओं की इस क्षेत्र में सबसे अधिक आवश्यकता है। यहां वर्ष में केवल दो महीने वर्षा होती है और उस पर भी पहाड़ी स्थान होने के कारण वर्षा का सारा पानी बह जाता है। यहां की समस्या इस पानी को संगृहीत करने की ही नहीं बल्कि ऊपरी प्रदेशों में भलीभांति सिंचाई करने की भी है। बस्तर में चावल स्थानीय खपत से अधिक होता है और तिलहन के उत्पादन तथा निर्यात के सम्बन्ध में, विशेष रूप से सरसों के सम्बन्ध में, उत्तर प्रदेश के बाद इसी का स्थान है। गेहूं और कपास जैसी रबी की फसलें यहां बोई जाने लगी हैं परन्तु इनकी सफलता सिंचाई की सुविधा पर निर्भर है।

आदिवासियों में एक तो कुशल कारीगर ही बहुत कम हैं और इन तक आवश्यक सामग्रियों का पहुंचाना और भी कठिन है क्योंकि मुख्यालय के सबसे पास का रेलवे

स्टेशन १८४ मील दूर है। इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी अब यहां जनता के सहयोग से सड़कें और पानी इकट्ठा करने के लिए बांध बनाए जा रहे हैं।

दिसम्बर, १९५४ तक यहां १०,४०० गढ़े खाद और मूत्र के लिए खोदे गए, ४०० खेत खेती की आधुनिक पद्धति के प्रदर्शन के लिए तैयार किए गए, १,३०० मन उन्नत बीज बांटे गए, २५०० एकड़ भूमि का पुनरुद्धार किया गया और ४०,००० पशुओं को रोगों से बचाने के लिए टीके लगाए गए।

संचार-साधनों का विकास कृषि कार्यक्रम का एक अभिन्न अंग है। अच्छी सड़कों के बिना योजनाकार्य कर्मचारी किसानों को बीज अथवा उर्वरक शीघ्र नहीं दे पाते। अब तक २०० मील से अधिक लम्बी सड़कें बनाई जा चुकी हैं जिन पर अनुमानतः लगभग ६२,००० रुपये व्यय हुए। विभिन्न योजनाकार्यों के लिए आदिवासियों से लगभग आठ लाख रुपये मिले हैं, जब कि सरकार ने भी लगभग ६·७० लाख रुपये व्यय किए।

आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए इस क्षेत्र में धान कोटि अथवा अन्न-भण्डार बनाए गए हैं। इन भण्डारों का प्रबन्ध गांव वाले करते हैं। तथा बस्तर गांव की धान कोटि, कसरपाल, भानपुरी, दहीकेंगा, करपावण्डी की चार अन्य धान कोटियां ह, में लगभग २०,००० मन चावल संगृहीत किया गया। किसान अपनी फसल काट कर इन भण्डारों में जमा कर देते हैं और जब बाजार में भाव बढ़ जाता है तो इससे उधार ले लेते हैं। ऐसे ऋणों पर किसान प्रसन्नतापूर्वक २५ प्रतिशत व्याज देते हैं और फसल कटने के समय जब बाजार भाव मन्दे होते हैं तो ऋण चुका दिए जाते हैं।

यह ऋण किसी भी व्यक्ति को दिया जा सकता है बशर्ते कि गांव क कुछ लोग उसकी ईमानदारी की पुष्टि करें। योजनाकार्य अधिकारी के अनुसार ये व्यक्ति ईमानदार होते हैं और इनके लिए किसी प्रकार की ज़मानत की आवश्यकता नहीं होती। यह व्यवस्था यहां सन्तोषजनक रूप से चल रही है, विशेषकर इसलिए कि अधिकांश गांव वालों ने यहां विकास मण्डल बना लिए हैं जो धान कोटियों का प्रबन्ध करने के अतिरिक्त छोटे किसानों की जमानत भी कर देते हैं।

आदिवासियों में कुटीर उद्योगों के लिए भी प्रोत्साहन दिया जा रहा है। बस्तर के माड़िया लोग कंघियों (फ्लाइंगशटल) का उपयोग करने लगे हैं। फलतः हाथ से बुने कपड़े का उत्पादन बढ़ गया है। बढ़ई नये औज़ारों से काम कर रहे हैं और अपने व्यवसाय में पहले से अधिक दक्ष हो गए हैं। धोंकनियों और फूंकनियों का प्रचलन होने के कारण लुहारी के काम में भी अब उन्नति हो रही है।

बस्तर में बांस बहुतायत से होता है। 'बस्तर' शब्द की उत्पत्ति ही कुछ लोग 'बांस' से मानते हैं। आदिवासी लोग टोकरियां बनाने में बहुत कुशल होते हैं और योजनाकार्य-अधिकारी टोकरियों की बिक्री में इनकी सहायता करते हैं। रस्सी बनाने का काम भी ठीक ढंग से चल रहा है।

यहां के शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य छात्रों में कृषि के प्रति रुचि जागृत करना है। इन्हें बुनियादी शिक्षा दी जा रही है जिसमें खेती पर ही अधिक बल दिया गया है क्योंकि लोगों का विचार यह है कि बड़े लोगों की अपेक्षा युवकों को सिखाना अच्छा है। बड़ों को कोई भी नयी बात सिखाने से पहले पुरानी बातों को भुलाना होता है।

आदिवासियों में आधुनिक शिक्षा के प्रति स्वाभाविक रूप से उपेक्षा का भाव पाया जाता है। ठीक हो या गलत, परन्तु वयोवृद्ध लोगों का विचार है कि इससे उनका पतन होता है। जब योजनाकार्य कमचारियों ने आदिवासियों में अपना शिक्षा-कार्यक्रम कार्यान्वित करना चाहा तो उन्होंने उपेक्षा दिखाई। किन्तु कर्मचारियों ने धैर्यपूर्वक ऐसी पद्धति खोज निकाली जो आदिवासियों की प्रवृत्ति के अनुकूल हो और इनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली हो। यहां १३ प्राथमिक स्कूल, ४ मिडल स्कूल और ८ हाई स्कूल खोले जा चुके हैं और उनको भूमि भी दे दी गई है। छात्रों के लिए व्यावहारिक कृषि और इससे सम्बन्धित विषयों का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया गया है। फसल के अनुसार प्रतिमास इनका पाठ्यक्रम बदलता रहता है। छात्रों को सप्ताह में दो बार शारीरिक श्रम करना पड़ता है। आदिवासी लोग अब यह देख कर सन्तुष्ट हैं कि कृषि के सम्बन्ध में इनके बच्चे इनसे अधिक जानते हैं। आरम्भ में जब लड़के पौधों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लगाने और खाद आदि की बातें करत थे तो बड़े लोग उनका मजाक उड़ाते थे। परन्तु बाद में जब बस्तर हाई स्कूल के लड़कों को एक एकड़ भूमि पर सबसे अधिक उत्पादन करने के उपलक्ष्य में प्रथम पुरस्कार मिला तो इनके हृदय गर्व से भर उठे। अब आदिवासी अपने बच्चों को स्कूल भेजने के लिए बड़े उत्सुक रहते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि यो॰नाकार्य क्षेत्र में नये प्रकार के ७३ प्राथमिक स्कूल खोले गए हैं। अधिकारियों द्वारा किए गए एक प्रबन्ध के अनुसार लड़के किसानों के साथ उनके खेतों पर काम करते हैं और इन्हें उत्पादन का ५० प्रतिशत मिल जाता है। इस प्रकार ये स्कूल सरकारी सहायता के बिना स्वतन्त्र रूप से चल रहे हैं और स्कूलों के छात्र कृषि के क्षेत्र में नेतृत्व के अभाव की भी पूर्ति कर रहे हैं।

श्री नोरनहा ने बताया—"इसीलिए मेरा लक्ष्य छोटे बच्चों को सिखाना था। एक बार यदि नींव पड़ जाए तो ये योजनाकार्य-अधिकारियों की सहायता के बिना भी चलते रहेंगे।" दिसम्बर, १९५५ तक इस कार्यक्रम से ६,३६४ लड़कों को लाभ हुआ। इन स्कूलों में जहां कुछ वर्ष पूर्व छात्रों के नाम पर उल्लू बोला करते थे, अब छात्रों का कलरव निरन्तर गूंजा करता है।

इन क्षेत्रों में आदिवासियों का स्वास्थ्य भी सुधारने की चेष्टाएं की जा रही हैं।

बस्तर जिले में 'एविटामिनोसिस' नामक रोग सामान्यतः पाया जाता है। आदिवासियों के भोजन में पौष्टिक तत्वों का अभाव रहता है। 'पेज' अथवा 'मारभात' इनका मुख्य भोजन है। सब्जियों से ये बिलकुल अनभिज्ञ हैं। इनके भोजन को सन्तुलित बनाने के लिए प्रायः सभी गांवों में मूली, पालक, और भिण्डी उगाई जा रही है। एक चिकित्सक ने अपनी दैनन्दिनी में लिखा है कि बस्तर ज़िले के गांवों में खाद्य सब्ज़ियों को अधिक से अधिक मात्रा में बोया जाना चाहिए।

इस क्षेत्र में मलेरिया और चर्म रोग बहुत फैलते हैं। अब तक यहां के आदिवासी इनको दूर करने के लिए अन्धविश्वासों और जादू-टोने पर विश्वास करते थे। इसलिए इनमें आधुनिक औषधियों का प्रचार करने के लिए बहुत धैर्य की आवश्यकता थी। दिसम्बर, १९५४ तक विभिन्न दवाखानों में १५,००० से अधिक रोगियों की चिकित्सा की गई। हैज़े से बचाने के लिए लगभग १९,००० लोगों को टीका लगाया गया और ९०० कुंओं में कीटाणुनाशक औषधियां डाली गईं। योजनाकार्य क्षेत्र में दो स्वास्थ्य केन्द्रों के अतिरिक्त कोढ़ के रोगियों के लिए भी एक दवाखाना खोला गया। योजनाकार्य कोष से जनपद सभा के अस्पतालों को सहायता भी मिल रही है।

बस्तर की भांति कालाहाण्डी में भी बाढ़ से सुरक्षित रहने वाला विशेष प्रकार का धान—एफ आर ४३-बी बोया जा रहा है जिसकी मांग दिनों-दिन बढ़ रही है। धान पैदा करने की जापानी पद्धति अब इन लोगों के लिए कोई नई बात नहीं है। यहां पर ८,००० मन से अधिक बीज और ७,३०० से अधिक कृषि के नये औज़ार बांटे गए हैं। ३४७ गांवों में लगभग १,८०० खाद के गढ़े खोदे गए हैं और दिसम्बर, १९५४ तक २,२७० मन से अधिक रासायनिक उर्वरक बेचे गए।

इन सब बातों का परिणाम यह निकला कि इस क्षेत्र में उत्पादन सौ प्रतिशत बढ़ गया।

उड़ीसा के आदिवासी अच्छे कारीगर हैं और कपड़ा बुनने तथा जूता बनाने में बहुत कुशल हैं। मेहर लोगों का परम्परागत व्यवसाय कपड़ा बुनना

ही है। ये विकास कार्यक्रम से, जिसे ये पल्ली विकास योजना कहते हैं, ऋण लेते हैं। वस्तुएं खरीदने और बेचने के लिए यहां पर ६० से अधिक सहकारी समितियां खोली गई हैं। आदिवासी बच्चे अब जूनागढ़ में बने एक बहुधन्धी-शिक्षा केन्द्र में जूता बनाने, कपड़ा सीने और बढ़ईगीरी का प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त इस केन्द्र के शिक्षक विभिन्न गांवों में जाकर अस्थायी शिविरों की भी व्यवस्था करते हैं। अब चमड़ा कमाने की नई-नई विधियां उपयोग में लाई जाती हैं।

इस योजना क्षेत्र में गांव वालों ने ११० मील लम्बी सड़कें बनाई हैं जिससे गांवों के आन्तरिक भागों में यातायात की ही सुविधा नहीं बढ़ी बल्कि इससे बहुत-से भूमिहीन किसानों को जीविकोपार्जन का अवसर प्राप्त हुआ है।

पहले इस प्रदेश के लोग मद्यपान के बड़े प्रेमी थे परन्तु अब सरकार ने चतुरता से इनकी यह आदत छुड़ा दी है। योजनाकार्य-क्षेत्रों में २० से अधिक बुनियादी स्कूल खोले जा चुके हैं और ६० प्राथमिक स्कूलों को बुनियादी स्कूलों में परिवर्तित कर दिया गया है। इन स्कूलों के व्यय में यहां की जनता ने स्वेच्छा से अपना सहयोग दिया है। आजकल इस क्षेत्र में ११४ समाज शिक्षा केन्द्र हैं।

अन्य आदिवासी क्षेत्रों में भी विकास कार्यक्रम के लिए आदिवासियों का उत्साह और यथाशक्ति उसमें सहायता देने की इनकी इच्छा स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

४०,५३० व्यक्तियों की जनसंख्या के हिमाचल-प्रदेश में गांववालों ने १,२०,००० रुपये दिए और ४,००,००० रुपये सरकार ने व्यय किए। इसी अवधि में अर्थात् इस कार्यक्रम के प्रथम दो वर्षों में मध्य भारत और राजस्थान के आदिवासी क्षेत्रों में जनता ने १,८०,००० रुपये तथा सरकार ने ३,४२,००० रुपये व्यय किए।

बीजापुर और हैदराबाद के कन्नड़ खण्डों की जनता ने भी १,५२,००० रुपये का योगदान दिया।

असम, बिहार, उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश, त्रिपुरा, मणिपुर तथा उत्तर प्रदेश के आदिवासी योजनाकार्य क्षेत्रों में भी इसी प्रकार की आशाजनक प्रगति हुई है।